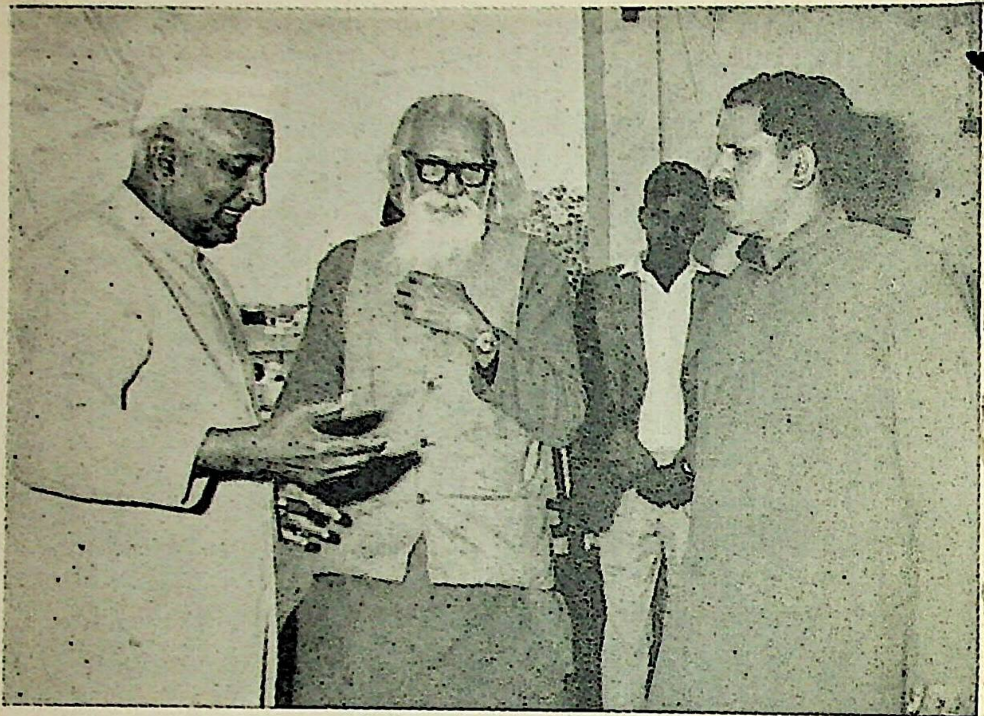
वर्ष ४ अं० १०

श्रीकृष्ण-सन्देश



श्रीकृष्ण-जन्मस्थानका अवलोकन और श्रद्धांजलि-समर्पण।



सुप्रसिद्ध गांधीवादी विचारक आचार्य काका कालेलकर श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके विकास-कार्योंका परिचय प्राप्त कर रहे हैं।

आचार्य काका कालेलकर दर्शक-पंजिकामें अपनी श्रद्धांजलि अंकित कर रहे हैं।



श्रीकृष्ण-सन्देश

[धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृतिप्रधान मासिक-पत्र]



वार्षिक शुल्क : ७) रु०

आजीवन शुल्क : १५१) रु०

प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

विषयानुक्रमणिका



—०००—

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान : लोकके आलोकमें—

आज इस पवित्रस्थानपर अपनेको धन्य समझता हूँ । इस स्थानके साथ हमारे धर्मका और संस्कृतिका सब तरहका इतिहास सम्बद्ध है । अन्तमें हम भारतीय संस्कृतिके चरम सिद्धान्तपर आ पहुँचे हैं, कि सर्वधर्म समन्वय ही परमधर्म है—"सर्वेषां अविरोधेन" यहाँ जो यह नया "ब्रह्मकर्म" शुरू हुआ है उसकी मैं सराहना करता हूँ ।

—काका कालेलकर

आज दिनांक १२ मार्च १९६९ को सायंकाल ५ बजेके लगभग हमलोग पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजीके साथ यहाँ आये, जो यहाँकी संस्थाके उपाध्यक्ष हैं ।

भगवान् श्रीकृष्णके ऐतिहासिक जन्मस्थानके पुनरुद्धारके लिये जो निर्माण कार्य होरहे हैं, उनका अवलोकन करके हम सबोंको बड़ी प्रसन्नता हुई । हमारी यह कामना है कि यहाँके विकासकार्य शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न हों और यह पुण्य-स्थान गीतावक्ता जगद्गुरु श्रीकृष्णके गौरवके अनुसार न केवल हिन्दू-जातिके लिये, अपितु समस्त विश्व-वासियोंके लिये प्रेरणाका केन्द्र बने ।

स्वामी धर्मानन्द, अध्यक्ष सन्यासी संस्कृत कालेज, काशी ।
आचार्य मंगलदेव, उपाध्यक्ष भारत साधु-समाज ।
स्वामी केशवपुरी, सं० मंत्री भारत साधुसमाज, काशी :
श्री व श्रीमती मथुरादास टी० आसूमल—बम्बई ।

यह कृष्णजन्मस्थान देखनेसे मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ । जिन लोगोंने अपना धन, समय और दूसरे प्रकारकी सहायता देकर इसमें योगदान दिया है, वे प्रशंसनीय हैं । मैं संस्था तथा उससे सम्बन्धित सभी लोगोंको शुभ-कामना देना चाहता हूं ।

डा० परमेश्वरदीन शुक्ल,
संयुक्त शिक्षा सलाहकार,
भारत सरकार, नई दिल्ली ।

भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करके तथा नवनिर्माणाधीन भागवतभवनका प्रारूप देखकर मनको अतीव हर्ष हुआ । मुझे पूर्ण विश्वास होता है कि भगवान्ने यहीं जन्म लिया है । ट्रस्ट मन्दिर निर्माणके रूपमें सर्वोत्तम कार्य कर रहा है ।

पं० राम औतार दुबे,
पैरामैरीबो, सुरीनाम (डच गायना)
दक्षिणी अमेरिका ।

———

This site with its temples & Birth place of Lord Krishna, I have found most impressive & meaningful. Helps to understand a little about the Hindu Religion.

KEN LEE
6, Home Villas, Donny Brook
DUBLIN, IRELAND

The spreading of Krishna is a great help to the U. S. Hope in your new temple Bhagwan Shri Krishna will add continuing joy.

CAROL KALL MAN
ALAN KALL MAN
KRISHNA
51, Saint Marks Place,
New York City (U. S. A.)

It has given me real devotional pleasure to visit this holy place. Who will have the opportunity except those who have His Grace to be able to get His grace. We are realy not competent except in humality to approach the Lord's place of birth when he has really no birth. But yet he took birth to show to the world he was one of the man of the world & moved with the Gopas the loveliest to exhibit he is Bhakta BHAKKURAM the lover of his devotees. Any attempt to keep alive this place already the subject of fanatic Vandelism must be the subject of great support.

N. VENKATARAMA AYYAR
Retd. JUDGE, MADRAS

I visited this place in the company of friends. All of us found the place enchanting — clean, sacred and highly inspiring.

Dr. K. V. RAO
Prof. of Pol. Science,
Banaras Hindu University

The Glory of Lord Krishna is something beyond description. So it goes without saying that a memorial built so fittingly in the very place of Lord's birth is something most admirable. I wish the work all success. Let it shine as the pride of India & the world at large.

Swami Atmanand Sarawattey
TAPOYANAM
R. P. 69, P. O. KOTTOOR
Via KATTA KADE,
Dist TRIVANDRUM
KERALA STATE





श्रीकृष्ण-सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥

वर्ष ४ | मथुरा, मई १९६९ | अङ्क १०

कर्म करो

तुम कर्म करो। कर्तव्यसे कदापि पीछे न हटो। अपने राष्ट्र, धर्म तथा स्वत्वकी रक्षाके लिये किसीके साथ युद्धका भी अवसर आ जाय तो उसका सहर्ष स्वागत करो, उससे मुंह न मोड़ो। राष्ट्रके ऊपर आक्रमण करने वाले शत्रुको सोत्साह मार भगाना महान् शौर्य है। वह धर्मयुद्ध है। उससे बढ़कर श्रेयस्कर कर्म दूसरा कोई नहीं है।

तुम कर्म करनेमें स्वतन्त्र हो। सच पूछो तो कर्म करनेमें ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फलोंमें नहीं। देश, काल और पात्रके अनुसार कर्म फलका विधान करनेवाली शक्ति दूसरी है। किसी भी कर्मका मन चाहा फल पालेना मनुष्यके बल-बूतेके बाहर है। अमुक कर्मका अमुक फल अवश्य मिले— यह आशा मनमें लेकर कर्म न करो। यह भी न सोचो कि फलाशा न रहनेपर कर्ममें प्रवृत्ति ही क्यों हो ? कर्मको अपना कर्तव्य मानकर भगवदाराधनकी दृष्टिसे करते रहो। अकर्ममें, निकम्मे बैठे रहनेमें तुम्हारी कदापि आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

फलासक्ति छोड़ कर योगस्थ होकर कर्म करो। कर्ममें सिद्धि प्राप्त हो या असिद्धि, दोनों ही अवस्थाओंमें सम रहो। ऐसा न हो कि सफलता मिलनेपर तुम हर्षसे फूल उठो और असफल होनेपर शोकसे उद्विग्न हो जाओ। हर्ष तथा शोक दोनों ही विकार हैं। विकार ही विषमता है। इस विषमताको त्याग देनेपर ही समता आती है। चित्तकी इस समताको ही योग कहते हैं और योग ही कर्म करनेमें कुशलताका परिचायक है।

यह न समझो कि कर्म बन्धन कारक होते हैं; अतः बन्धनसे छूटनेके लिये कर्मोंको त्याग देना ही उचित है। जो लोग पूर्वोक्त समत्व-बुद्धिसे युक्त रह कर कर्म फलकी इच्छाके त्यागपूर्वक कर्म करते हैं; वे जन्म मृत्युके बन्धनसे छूटकर अनामय (रोग-शोकसे शून्य परब्रह्म) पदको प्राप्त होते हैं।

अतः अपने वर्ण और आश्रमके अनुरूप शास्त्रद्वारा निश्चित कर्मका अनुष्ठान सदा करते रहो। कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करते रहना अधिक अच्छा है। कर्मको सर्वथा त्याग देनेसे शरीरका निर्वाह भी नहीं हो सकता। देवपूजन, भगवदाराधन, दीन दुखियोंकी सेवा अथवा परोपकारकी भावनासे जो निष्काम कर्म किये जाते हैं; वे 'यज्ञ' अथवा 'यज्ञार्थ कर्म' कहलाते हैं। यज्ञार्थकर्म बन्धनसे छुड़ानेवाले होते हैं। अयज्ञार्थ कर्म ही बन्धन कारक होते हैं। अतः तुम आसक्ति-शून्य होकर यज्ञार्थ कर्म करो।

आसक्ति ही सारे दोषोंकी जड़ है। अतः तुम उससे बचे रह कर सतत कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान करते रहो। अनासक्त भावसे कर्म करने वाला पुरुष परमात्माको प्राप्त कर लेता है। राजर्षि जनक आदि महापुरुषोंने कर्मसे ही संसिद्धि प्राप्तकी थी।

याद रहे, यदि शत्रु अपने देशकी सीमापर आक्रमण करके हमारे पौरुषको ललकारता हो तो उसकी चुनौतीको सुनकर चुप बैठना या मुंह मोड़ना कायरता है, पाप है। मेरा स्मरण करते हुए इस समय धर्मयुद्धके लिये तैयार रहो।



'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'



श्रीकृष्णके दिव्य जन्म-कर्म

—पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य



अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

भगवान् श्रीकृष्ण देखनेमें मानव जैसे हैं, उन्होंने मानव-शरीर ग्रहण किया है, फिर भी साधारण मानवोंसे उनकी तुलना करना या साधारण मानव-कोटिमें उनकी गणना करना वास्तवमें उनका अपमान करना है। इसमें सन्देह नहीं कि भगवान् श्रीकृष्णके अवतारसे मानव-जाति महिमान्वित हुई है। श्रीकृष्णने मानवताको उत्कर्षकी चरमसीमा पर पहुँचाया है और मनुष्योंके सामने यह आदर्श उपस्थित किया है कि यदि मानव, बुद्धि, विवेक, उत्साह, साहस तथा धैर्यके साथ यथाशक्ति पुरुषार्थके मार्गपर चलता रहे, किसी भी दशामें विचलित न हो तो वह असम्भवको भी सम्भव कर सकता है। सफलता उनके सामने हाथ जोड़े खड़ी रहेगी। श्रीकृष्णने नरको नारायण पदके अत्यन्त निकट पहुँचा दिया है। अतः वे मानव-शिरोमणि किंवा मानवाग्रगण्य भी कहे जा सकते हैं। तथापि उन्हें केवल मानवताकी सीमामें आबद्ध नहीं किया जा सकता। वे नरत्व और देवत्व दोनोंसे ऊंचे हैं, सम्पूर्ण भूतेश्वरोंके भी ईश्वर-भूत-महेश्वर हैं। उनके परमात्मभावको न जानना या भुला देना आत्मविस्मृतिसे भी अधिक भयंकर है। वे स्वयं अपने नित्य सखा नरकेसामने अपने रहस्यका उद्घाटन करते हुए कहते हैं—'मैं अजन्मा हूं, अव्ययात्मा हूँ और सम्पूर्ण भूतोंका ईश्वर हूँ तो भी जन्म ग्रहण करता हूं, अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योग-मायासे प्रकट होता हूँ।' इसका तात्पर्य यह है कि वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्ण जन्म और मृत्युको नहीं प्राप्त होते। भला अजन्माका जन्म कैसा? और जो जन्म ले वह अजन्मा कैसा? दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। तो फिर जन्म ग्रहणका क्या रहस्य है? यही कि वे जन्म लेते से प्रतीत होते हैं। जन्म ग्रहण करने और जन्म लेने से प्रतीत होनेमें महान् अन्तर है। वास्तवमें जन्म नहीं लेते तो भी वैसे प्रतीत होते हैं। हवासे बादलोंके तेज चलनेपर उनकी ओटमें पड़ा हुआ चन्द्रमा भी भागतासा प्रतीत होता है, किन्तु यह प्रतीति मात्र है,

वास्तवमें चन्द्रमा भागता नहीं है। जैसे सूर्य वास्तवमें उदय-अस्तसे रहित है, तो भी उसका उदय होना और अस्त होना भी देखा जाता हैं। इस उदय-अस्तकी प्रतीतिमें कारण है पृथ्वीका आवरण। आवरण हटनेपर सूर्यका उदय और आवरण आ जानेपर अस्त जान पड़ता है। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर सर्वगत नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त-स्वभाव पूर्णब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण अपनी योगमायासे आवृत होनेके कारण अप्रकट हैं और उस आवरणको हटा देनेपर वे प्रकट हो जाते हैं। यही उनकी अवतार-लीला और अन्तर्धान-लीलाका रहस्य है। यह वास्तवमें आविर्भाव और तिरोभाव मात्र है। अज्ञानी इसीको जन्म-मरण मानते हैं और ज्ञानी इस रहस्यकी वास्तविकताको समझकर नित्य-निरन्तर आनन्द-मग्न रहते हैं।

सारे संसारकी उत्पत्ति मूलप्रकृतिके अधीन है,समस्त जीव उस प्रकृतिके अधीन होकर भी जन्म ग्रहण करते हैं, किन्तु भगवान् उस मूलप्रकृतिको भी अपने अधीन करके प्रकट होते हैं। यही उनके जन्मकी दिव्यता है। एक बात और ध्यान देनेकी है, भगवान् प्रकृतिको अधीन करके प्रकट तो होते हैं, परन्तु उनके उस प्राकट्यमें द्वार बनती है 'आत्ममाया'। आत्ममायासे उनकी ऐश्वर्य-शक्ति या इच्छा-शक्ति रूपा योगमायाका ग्रहण किया गया है। यों तो भगवान् सर्वत्र विराजते ही हैं और मूलप्रकृति भी सदा-सर्वदा भगवान्के अधीन है ही, फिर भी हम उन्हें व्यक्त रूपमें नहीं देख पाते, क्योंकि वे योगमायासे समावृत रहते हैं। जब अवतार लेनेका समय आता है तो वे उस योगमायाके आवरणको हटाकर प्रकट हो जाते हैं।

पुराण आदि ग्रंथोंमें श्रीकृष्ण अवतारका जो वर्णन आता है। उसपर ध्यान देनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। साधारण जीव जब जन्म लेते हैं, उस समय माताको प्रसव-वेदना होती है, वह पीड़ासे कराहती भी है, किन्तु श्रीकृष्णके जन्म-कालमें पासके ही पहरेदार मौजसे नींद लेते रहे, आधी रात तक वे जगे कैसे रहें? फिर ज्यों ही बालकके रोनेकी आवाज हुई त्योंही वे जाग पड़े थे। उस समय भगवान् आकाशमें ही दिव्य चतुर्भुज रूपमें प्रकट हुए थे। प्रकट क्या हुए? योगमायाका परदा हटा दिया. दीखने लगे। माता देवकीका गर्भ भार स्वतः हलका हो गया। माता-पिताने स्तुतिकी, वार्तालाप हुआ। उसके बाद माताके अनुरोधसे भगवान् शिशुरूपमें दीखने लगे। यह सब जन्मकी लीलामात्र ही तो है। साधारण जीव प्रकृतिके अधीन हो अपने अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेते और दुःखसुख भोगते हैं। भगवान्का जन्म इस प्रकार नहीं होता। वे प्रकृतिके नियन्ता होकर योगमायासे समय-समयपर लोक-कल्याणार्थ लीला करनेके लिए प्रकट होते हैं। जीवोंको अनिच्छासे विवश होकर गर्भवासका कष्ट भोगना, नियत समयपर योनिसे शरीर सहित बाहर निकलना तथा जरा व्याधि आदि का दुःख सहन करना पड़ता है। किन्तु भगवान् स्वेच्छासे जब चाहें, जहाँ चाहें, जिस रूपमें चाहें, प्रकट और अन्तर्धान हो सकते हैं। क्षण भरमें अनेक छोटे-बड़े रूप धारणकर सकते हैं। व्रजलीलाके समय ब्रह्माजीको जब मोह हुआ था, उस समय भगवान् स्वयं ही गोपबालक, गोवत्स, लकुटी और वस्त्र आदिके रूपमें प्रकट हो यथायोग्य व्यवहार करते थे।

साधारण जीवोंकी अपेक्षा तो महात्माओं और योगभ्रष्ट पुरुषोंके जन्ममें भी विलक्षणता होती है, फिर साक्षात् भगवान्‌के जन्मके विषयमें तो कहना ही क्या है ? उस समय तो वासुदेव और देवकीके शरीर भी तेजोमय प्रतीत होते थे। साधु पुरुषोंके हृदयमें सहसा प्रसन्नता छा गयी। अग्निहोत्र गृहमें बुझी हुई आग अपने आप प्रज्वलित हो उठी। नदियों का जल पावसमें भी शरद्‌के समान स्वच्छ हो गया। रातमें भी कमल खिल उठे। आकाश स्वच्छ हो गया, तारे चमकने लगे। सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रकाश एवं हर्षोल्लास छा गया। ग्रह शुभ स्थानपर आगये। उनकी गति ठीक हो गयी। वनों और उपवनोंके समस्त वृक्ष फल-फूलोंके भारसे लद गये। इस प्रकार प्रकृतिके राज्यमें भी महान् परिवर्तन हो गया। क्या यह सब श्रीकृष्णके जन्मकी दिव्यताका परिचायक नहीं है ?

श्रीकृष्ण अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं और जन्म लेकर भी अजन्मा हैं। वे एक ही साथ अजन्मा भी हैं और जन्मवान् भी। वे व्यक्त-भावको प्राप्त होकरभी अव्यक्त हैं, परमात्म-स्वरूप हैं, अविनाशी हैं और सर्वश्रेष्ठ हैं, जो इन्हें इस रूपमें नहीं जानते वे अज्ञानी हैं। (गीता ७।२४) वे आकाश आदि पञ्च-भूतों तथा समस्त प्राणियोंके कारण एवम् अविनाशी परमेश्वर हैं, ऐसा ज्ञान दैवी सम्पत्तिसे युक्त महात्मा पुरुषोंको ही होता है। (गीता ९।१३) श्रीकृष्ण अजन्मा, अनादि और लोकमहेश्वर हैं, इस बातको जो भली-भांति जान लेता है, वही असंमूढ है। (गीता १०।३)

इस रहस्यका बोध कैसे हो ? इसका उपाय है दैवी सम्पत्तिको अपनाकर महात्मा बनना। फिर यह सारा रहस्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है। श्रीकृष्ण तो साक्षात् भगवान् ही हैं, साधारण मनुष्य भी जब अन्तःशुद्धिका संपादन करके ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उसे इस बातमें तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि आत्मा जन्म-मरण आदिसे रहित है—न जायते म्रियते वा कदाचित्। हम जिन जीवोंको सदा जन्मते-मरते देखते हैं, उनकी आत्मा भी अजन्मा और अमर ही है। जन्म-मृत्युकी प्रतीति तो अज्ञानसे ही होती है। तो फिर किसका जन्म और किसकी मृत्यु होती है ? शरीरका जन्म और शरीरकी ही मृत्यु होती है—'अन्तवन्त इमे देहाः'। स्थूल शरीरसे सूक्ष्म शरीरका संयोग ही जन्म और वियोग ही मृत्यु है। सूक्ष्म शरीर है—'श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना और नासिकाकी सूक्ष्म शक्तियों सहित मन।' जैसे हवा फूलोंसे उनकी गन्ध लेकर जाती है, उसी प्रकार जब जीवात्मा शरीरको ग्रहण करता या छोड़ता है, उस समय वह श्रोत्र आदि इन्द्रियोंको साथ ले जाता है। यहां जीवात्माका स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

आत्मा तो नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल एवं सनातन है—

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।

अतः वह कहीं आता जाता नहीं है। उपर्युक्त सूक्ष्म इन्द्रियोंमें चेतन आत्माका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसे ही जीवात्मा नाम दिया गया है। जैसे सिनेमा में विद्युतकी शक्ति और ज्योति पाकर जड़ चित्रमें चलते-फिरते-प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार चेतन आत्माका प्रकाश पाकर ये सूक्ष्म इन्द्रियां भांति-भांतिकी चेष्टायें करती हैं। इन्हींका आगमन होता है।

इस तत्वको न जाननेके कारण अज्ञानी पुरुष अपनेको जन्म और मृत्युके अधीन मानता है। और ज्ञानी इस रहस्यको जानता है, इसलिए वह अपने आपको नित्य-मुक्त अजन्मा एवं अमृत समझता है।

जब ज्ञानी पुरुषकी भी ऐसी स्थिति है तो साक्षात् सच्चिदानन्दघन भगवान श्रीकृष्णको अजन्मा, अव्यक्त और अव्यय माननेमें क्या आपत्ति हो सकती है? जैसे आग एक ही समय व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपोंमें उपलब्ध होती है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण एक ही साथ व्यक्त-अव्यक्त, साकार-निराकार तथा जन्मवान् और अजन्मा हैं। ज्ञानी पुरुषका शरीर तो प्रारब्ध-निर्मित एवं पाञ्चभौतिक होता है, किन्तु परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य विग्रह स्वेच्छाविभूषित एवं चिन्मय है, अतः उसकी मृत्यु नहीं होती। जिस प्रकार आगके बुझनेका अर्थ उसका साकारसे निराकार होना था, व्यक्तसे अव्यक्तदशाको प्राप्त हो जाना ही है, न कि नष्ट होना। यदि बुझते समय अग्नितत्वका सर्वथा नाश हो जाय तो उसका फिर कहीं भी प्रकट होना या जलना असम्भव हो जाय। उसी प्रकार श्रीकृष्णके चिन्मय विग्रहका आविर्भाव और तिरोभाव मात्र होता है, नाश नहीं, अन्यथा आज उनके प्रेमी भक्तोंको उनकी मनोहर छविका दर्शन कैसे होता है? इस धराधामसे जाते या तिरोहित होते समय वे अपने दिव्य शरीर के साथ ही परमधामको प्राप्त हुए थे, उस शरीरका योग-धारणा-जनित अग्निसे भी दाह नहीं हुआ था—"योगधारणयाऽऽग्नेय्याऽदग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्।" दग्ध हो भी कैसे? इसमें दाह्य वस्तु थी ही क्या? ज्ञान, प्रेम और आनन्दका पुञ्ज ही तो श्रीकृष्ण का मधुर विग्रह है। अतः श्रीकृष्णके जन्म, स्वरूप और तिरोभाव सभी दिव्य हैं। भक्तों पर अनुग्रह करके अपनी दिव्य-लीलाओंके द्वारा उन्हें आनन्द प्रदान करने और दर्शन, स्पर्श तथा भाषण आदिके द्वारा उन्हें सुख पहुँचानेके लिये ही वे स्वेच्छासे प्रकट होते हैं।

जन्मकी ही भाँति भगवान्के कर्म भी दिव्य हैं। भगवान् जो कुछ भी करते हैं, उसमें उनका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ नहीं होता। ये जगत्के कल्याणके लिये ही ममता, आसक्ति और अहंकारसे शून्य होकर यज्ञार्थ कर्म करते हैं। उनके कर्मोंमें कामना राग-द्वेष आदि दोष नहीं होते। उनके कर्म सर्वथा निर्मल होते हैं। संसार में शुभनीति, धर्म, सदाचार, सुख-शांति, प्रेम और न्याय आदि की प्रतिष्ठा करना ही उनके कर्मोंका शुभ उद्देश्य होता है। भगवान्को तीनों लोकोंमें कुछ करना बाकी नहीं है, ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो भगवान्को प्राप्त न हो और वे उसे पाना चाहते हों। फिर भी लोक-संग्रहके लिये, संसारमें शुभ कर्मोंकी मर्यादा कायम रखनेके लिये कर्म करते हैं। यदि एक शब्दमें हम कहना चाहें तो यही कह सकते हैं कि भगवान्का कर्म यथार्थ होता है, इसलिये वह बन्धनकारक नहीं होता। यथार्थ कर्मसे भिन्न जितने कर्म हैं, वे ही बंधनकारक होते हैं—

"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।"

स्वार्थ छोड़कर दूसरोंको सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे जो-जो शुभ कर्म किये जाते हैं, वे सभी यज्ञार्थ कर्म कहलाते हैं।

आसक्ति, अहंकार, ममता, कामना आदि दोषोंसे युक्त जो कर्म होते हैं, वे ही बंधनमें डालनेवाले होते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके कर्म इन दोषोंसे सर्वथा शून्य निर्मल हैं। भगवान् स्वयं ही दिव्य कर्म करते या कर सकते हैं, दूसरोंसे वैसे कर्म का आचरण नहीं हो सकता, ऐसा भाव नहीं रखना चाहिये। भगवान्के कर्म तो स्वभावतः दिव्य होते हैं, किन्तु यदि मनुष्य भगवान्के बताये अनुसार कर्मका अनुष्ठान करें तो धीरे-धीरे उसके कर्म दिव्य हो सकते हैं। यहाँ दिव्यतासे अभिप्राय भगवान्की भाँति अलौकिक कर्म गोवर्धन-धारण आदि करने से नहीं है, बल्कि ऐसे कर्म से है, जो बंधनमें न डाल सकें। भगवान्ने जो कर्मयोगका उपदेश किया है, उसे ठीक समझकर प्रत्येक मनुष्य उसके अनुसार आचरण कर सकता है और उस आचरण से वह अपना लोक-परलोक दोनों ही सुधार सकता है। जैसे विष प्राणघातक पदार्थ है, किन्तु विशेष प्रकारसे उसका शोधन करके जब कोई दवा बनाई जाती है तो वही विष कितने ही घातक रोगोंसे बचानेमें समर्थ, प्राण-रक्षक बन जाता है। उसी प्रकार कर्मोंका भी शोधन कर देने पर उनका बंधकत्व दूर हो जाता है।

कर्म-शोधनके उस विशेष प्रकार को गीतामें 'योग' कहा है। 'योगः कर्मसु. कौशलम्' योग ही कर्म करनेमें कुशलता है। इस योगको समत्व-बुद्धिके नामसे भी पुकारते हैं।

'बुद्धया युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।"

तात्पर्य यह कि 'योग' के अनुसार कर्म करनेसे कर्मका बंधकत्व दूर हो जाता है। वह योग क्या वस्तु है ? गीता बतलाती है—कार्यमें सिद्धि हो या असिद्धि दोनों अवस्थाओंमें समान भावसे रहकर कर्म करना चाहिये। सिद्धिमें हर्ष या असिद्धिमें शोक होना ही बंधनकी जड़ है। अतः दोनों अवस्थाओंमें समान भावसे रहना उचित है, वह समता ही योग है–"–समत्वं योग उच्यते।" इस योग कर्म करनेमें फलेच्छा और आसक्तिका सर्वथा त्याग कर देना आवश्यक है। फल चाहने वाले तो कृपण होते हैं—"कृपणाः फलहेतवः।" योगयुक्त कर्मका स्वरूप अच्छी तरह समझलेनेकी आवश्यकता है। फलेच्छा और आसक्तिका त्याग करके कर्म करना एक प्रकारसे अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार शास्त्रविहित कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान करके उनके द्वारा श्रीकृष्णकी आराधना करना कर्मयोगका दूसरा प्रकार है। जब सब कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग होजाय तथा अपने सहित समस्त विश्वको परमात्माका ही स्वरूप समझकर उन्हींकी आज्ञासे उन्हींके लिये यन्त्रकी भाँति कर्म होने लगें तो यह तीसरे प्रकारका कर्मयोग है। कर्म करके भगवान्को अर्पण करना या उन्हींके

उद्देश्यसे कोई शुभकर्म करना अथवा आराधन-पूजन आदिके कर्म करना भी इसी श्रेणीमें है। सब कर्म प्रकृतिसे ही होते हैं. गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान छोड़ देना भी कर्म करनेकी एक प्रणाली है, इसमें ज्ञाननिष्ठाका ही प्राधान्य है।

कर्म कौन-कौनसे करने चाहिये और कौन-कौनसे नहीं, इसका निर्णय शास्त्रों तथा शास्त्रज्ञ महात्मा पुरुषोंसे करना चाहिये– 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।' कुछ लोग कर्मको स्वरूपतः बन्धनकारक मानकर उसके त्यागपर ही जोर देते हैं। इस संबंध में भगवान् श्रीकृष्णका निर्णय कुछ और ही है। वे केवल कर्म छोड़ देनेसे नैष्कर्म्यकी सिद्धि नहीं मानते। उनकी रायमें फल और आसक्ति छोड़कर उत्साहके साथ कर्तव्य-बुद्धिसे शास्त्र-विहित यज्ञ, दान, तप आदि सभी कर्म करने चाहिये। फलेच्छा और आसक्तिका त्याग ही सात्विक त्याग है। त्यागमें क्रियाकी नहीं, मनके भावकी प्रधानता है।

मनुष्य ज्ञानी हो या कर्मयोगी, उसे कर्म, अकर्म और विकर्मका स्वरूप समझ लेना चाहिये। मन, इन्द्रिय और शरीरसे होने वाली प्रत्येक चेष्टाका नाम कर्म है। इनमेंसे जिन-जिन कर्मोंके करनेकी शास्त्रोंमें आज्ञा है, वे कर्तव्य कर्म कहलाते हैं। शास्त्रोंमें जिनके लिए निषेध है उन पापकर्मोंका नाम विकर्म है। कर्मोंके त्यागको ही अकर्म कहा गया है। यह इनकी स्थूल परिभाषा है, इतने ही से इनका यथार्थ स्वरूप समझमें नहीं आता, इसीलिए कर्मोंके स्वरूपको बड़ा गहन बताया गया है। 'गहना कर्मणो गतिः।' शास्त्र-विहित कर्तव्य कर्म यद्यपि करने ही योग्य हैं, तथापि आचरणमें भावका भेद होनेसे तथा अधिकार, भेदसे उनके स्वरूपमें भेद हो जाता है। जैसे खोटे भावसे या दम्भसे किया हुआ शुभकर्म भी पाप है इसी प्रकार शास्त्रीय होनेपर भी ब्राह्मण-कर्म शूद्रके लिए और शूद्रका कर्म ब्राह्मणके लिए त्याज्य एवं विकर्म है। विकर्म-शास्त्र-विरुद्ध कर्म नरककी प्राप्ति करानेवाला है। अतः वह सर्वथा त्याज्य है, इसमें किसीका मतभेद नहीं है। कर्मोंको त्याग कर जो अकर्मत्व स्वीकार करते हैं, उसका उद्देश्य यही है कि हम कर्मोंके बन्धनमें न पड़े। किन्तु इतने ही से अकर्मता या नैष्कर्म्य की सिद्धि नहीं होती। कुछ प्राकृतिक कर्म ऐसे हैं, जिनका त्याग हो ही नहीं सकता, जिन कर्मोंका त्याग हो सकता है, उन्हें त्याग कर भी यदि हम उस त्यागका फल चाहने लगें अथवा ममता, आसक्ति और अहंकार पूर्वक हमने उन कर्मोंका त्याग किया तो उससे कोई लाभ नहीं हुआ। भाव-दोषके कारण वह त्याग भी बन्धन-कारक हो जाता है। जिसके डरसे "अकर्म" को अपनाया। वह डर अब भी ज्योंका त्यों बना है। ऐसी दशामें यह अकर्म भी कर्म बन गया। यही अकर्ममें कर्म देखनेका रहस्य है, जिसकी ओर भगवान्ने गीतामें संकेत किया है। इसी प्रकार उपर्युक्त दोषोंका त्याग करके यदि कर्तव्य बुद्धिसे शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान होता रहे तो वे कर्म भी बन्धन-कारक न होनेके कारण "अकर्म" ही कहलाते हैं। यहीं कर्ममें अकर्म देखना कहलाता

है। इसी प्रकार शुद्ध भावसे आसक्तिशून्य होकर किये जानेवाले देश, जाति और समाजके उद्धार सम्बन्धी कर्म परम मंगलमय होते हैं।

इस प्रकार भगवान्‌के उपदेशानुसार किये हुए मनुष्योंके कर्म भी जब दिव्य हो जाते हैं तो साक्षात् भगवान्‌के विषयमें क्या कहना है। उनके तो सभी कर्म स्वभावसे ही शुद्ध, निर्मल, बन्धन-कारक दोषोंसे रहित एवं यज्ञार्थ होते हैं। उनके कर्मका उद्देश्य केवल लोक-कल्याण और लोक-संग्रह है। इसके सिवा शैशवावस्थामें ही उन्होंने बड़े-बड़े दानवोंका संहार किया, इन्द्रका मान भंग करके गोवर्धन पर्वतको हाथपर उठाया, थोड़े ही दिनोंमें सारी विद्याऐं पढ़लीं, एक ही रातमें द्वारका जैसा नगर बसाया, मरे हुए बालकोंको भी परलोकसे ला दिया, तथा मरे हुए राजा परिक्षित्‌को भी जीवित कर दिया ये अलौकिक कर्म भी मानवीय दृष्टिसे दिव्य कहे जा सकते हैं। भगवद् दृष्टिसे तो भगवान्‌के द्वारा असंभव कर्म भी संभव हो सकते हैं।

ब्रह्मभूत ज्ञानीको पराभक्तिकी प्राप्ति

ममता और अहंकारसे रहित शान्त चित्त ब्रह्मभूत महात्मा प्रसन्नात्मा होता है, आनन्दस्वरूप आत्मासे अभिन्न स्थिति प्राप्त कर लेता है; फिरतो शोक उसे छू नहीं सकते और उसे कुछ पाना शेष नहीं रहता; इसलिये सारी आकांक्षाओंसे वह ऊपर उठ जाता है। सम्पूर्ण भूतोंमें समभावसे स्थित ब्रह्म या परमात्मासे वह अभिन्न हो जाता है। इस स्थिति सहज प्रेमादनन्दका उद्वेग होनेपर मुझ सगुण साकार, निर्गुण, निराकार समग्ररूप सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण विषयक पराभक्तिका उसमें स्वतः प्राकट्य होजाता है।

यही पराभक्ति ही ज्ञानकी पराकाष्ठा है, इसीको 'परम नैष्कर्म्य सिद्धि' और 'परमासिद्धि' इत्यादि नामोंसे कहा गया है। इसको प्राप्त होकर और कुछ जानना शेष नहीं रहता। इसीके द्वारा मनुष्य मुझे तत्वसे भली प्रकार जान लेता है कि मैं कैसा और किस प्रभाववाला हूँ। वह अनन्य भावसे मेरेको प्राप्त होजाता है, फिर उसकी दृष्टिमें मुझ वासुदेव के सिवाय और कुछ भी नहीं रहता।

—[गीता १८।५४।५५]

अद्वय तत्व ज्ञान

—स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती—



'दर्शन' अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसमें किसी आने-जानेवाले आकारका आरोप किये बिना उसका ज्योंका त्यों यथार्थ अनुभव। जगत्-दर्शन, जीव दर्शन एवं भगवद्दर्शनका अर्थ है उन उन वस्तुओंका साक्षात्कार, भगवद्दर्शनका अर्थ है आरोप विनिर्मुक्ति, भगवत्तत्वका अभेद ज्ञान।

भगवान् अर्थात् अद्वय ज्ञानतत्व। वही स्वयं प्रकाश सर्वाधिष्ठान अनुभाव्य निरपेक्ष अनुभव स्वरूप है। इसी तत्वका जब विषयकी उपाधिको दृष्टिमें रखकर सम्पूर्ण व्यक्तियों और आकारोंके बीजके रूपमें अनुसंधान किया जाता है तब वह कारण रूपसे सिद्ध होता है और जब आविर्भाव-तिरोभाव परिवर्तन, परिणाम आदि क्रिया-विक्रियाओंके मूलमें स्थित कालकी उपाधिसे अनुसंधान किया जाता है तब वह अन्तर्यामी नियंत्ता, व्यापक आदिके रूपमें सिद्ध होता है। हम जब उसी तत्वका प्रतीयमान आकारों लम्बाई चोड़ाई विस्तार स्थान आदिके मूलमें स्थित देशकी उपाधिसे संस्कृत बुद्धिद्वारा अनुसंधान करते हैं तब वह निरतिशय, विशाल एवं परिपूर्ण भासने लगता है और जब उसीको सम्पूर्ण भेदोंको बताने वाली बुद्धियोंके बीजकी उपाधिसे उपहृत करके देखते हैं तब वह सर्वज्ञ, सर्ववित् आदिके रूपमें निश्चित होता है। इन सभी निर्णयोंमें न तो तत्व आकारके आरोपसे विनिर्मुक्ति है और न बुद्धि ही विशेष संस्कारके प्रभावसे विरहित। जैसे चश्मेके रंगसे दृश्यमानवस्तु उपरक्त हो जाती है, उसी प्रकार अशुद्ध बुद्धिसे अशोधित वस्तुका साक्षात्कार होता है। इसीसे भगवत्तत्वके यथार्थ अनुभवके लिए सस्कारोल्लेख शून्य अर्थात् संस्कार विशेषसे अनाक्रान्त चरमा और परमा वृत्तिकी अपेक्षा होती है। जब तक ऐसी शुद्ध-बुद्धिके द्वारा पदार्थका निर्णय नहीं होता और महावाक्यके द्वारा उसके साथ आत्माकी सिद्ध एकताका बोध होकर अविद्याकी निवृत्ति नहीं हो जाती तबतक कोई भी व्यक्ति यदि 'भगवान्' शब्द

का प्रयोग करेगा तो वह अशोधित अर्थमें ही करेगा। इसलिये प्रबुद्ध महापुरुषोंके द्वारा प्रयुक्त जो भगवान् शब्द है वह ब्रह्म शब्दका ही पर्यायवाची है। अतः भगवद्दर्शन शब्दका अर्थ प्रत्यक्, चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्वकी अनुभूति ही है।

यह नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपञ्च क्या है? किसमें और किसकोभास रहा है? इन तीन प्रश्नोंको लेकर यदि विचार किया जाय तो यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जायगी कि यह प्रपञ्च जिस अधिष्ठान सत्तामें भास रहा है, उससे तत्वतः पृथक इसकी सत्ता नहीं हो सकती, क्योंकि अकाल, अदेश और अविषय सत्तामें देश, काल और विषयका नियन्ता-नियम्य, आधार-आधेय अथवा करण-कार्य रूप सम्बन्धकी सिद्धि नहीं होती। रज्जुतत्त्वका ज्ञान होनेपर जैसे सर्पकी प्रतिभासिकता स्पष्ट हो जाती है, वैसे ही अधिष्ठान-ज्ञान होनेपर प्रपञ्चकी दूसरी ओर यदि द्रष्टाका अनुसंधान करें तो वह भी अकाल, अदेश और अविषय होनेके कारण केवल चिन्मात्र सत्ताके रूपमें ही निर्धारित होता है और प्रपञ्चके साथ उसके भी नियन्ता-नियम्य, आधार आधेय, और कारण-कार्य सम्बन्ध सिद्ध नहीं होते। ऐसी वस्तुस्थितिमें यह प्रपञ्च न तो निर्विशेष अधिष्ठान सत्में है और न तो निर्विशेष चिन्मात्र द्रष्टामें और जब प्रपञ्च ही नहीं है, क्योंकि वह अपने भावाभावके अधिष्ठान प्रकाशक चेतनमें बिना हुए ही भास रहा हैं तब 'तत्पदार्थ' और 'त्वं पदार्थ' अर्थात् अधिष्ठान चेतन और द्रष्टा चेतनके भेदका कोई भी निमित्त हो ही नहीं रह जाता। कहनेका अभिप्राय यह है कि जगत् जीव और ईश्वरका जो भेद है वह अज्ञान मूलक है। इसलिये अज्ञान मूलकके भेद-भ्रमकी निवृत्ति ही कर्तव्य है भगवद्दर्शन होनेपर वही अज्ञान निवृत्त होजाता हैं और तब केवल भगवान् ही रहता है। इस अनुभव स्वरूप भगवान् में जो कि प्रत्यक् चैतन्याभिन्न है, भले ही भासमान रूपमें जगत् रहे, परन्तु वह तत्वतः नहीं है, इसलिये ब्रह्मरूप ही है।

तत्वदर्शी महात्मा अपने आपकी और सम्पूर्ण प्रपञ्चकी ब्रह्मताको जानते हुये भी जब देखते हैं कि इस यथार्थ सत्यको न जानकर स्वयं अद्वितीय सच्चिदानन्दघन होनेपर भी जीव दुखी होरहे हैं, जैसे-जैसे उनके भ्रमका निवारण हो, वे अपने कल्पित दुःखरूप अनर्थसे वैसे-वैसे मुक्ति प्राप्तकर सकें इसके लिये उनके अधिकारानुसार भिन्न-भिन्न प्रकारके अध्यारोप करके उनके कर्म, भाव और विचारोंका परिमार्जन करते हैं और उन्हें भगवद्दर्शनके योग्य बनाते हैं। इस योग्यताके निर्माणमें जिन साधनों और युक्तियोंका उपयोग करना पड़ता है, उनको तत्व अथवा भगवान् नहीं कहा जाता क्योंकि वे तो भिन्न-भिन्न भ्रान्तियोंकी निवृत्तियोंके लिये अध्यारोपित होती हैं। अध्यारोप और अपवादकी युक्तिसे ही सम्पूर्ण धर्म, उपासना, योग और विचार शास्त्रका तत्व ज्ञानमें समन्वय होता है। समन्वयदृष्टिसे ही सबकी संगति भगवद्दर्शनके साथ लगती है।

गणेश, शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य-इन भिन्न-भिन्न नामरूप वाले देवताओं, राम कृष्ण आदि अवतारों, गुरु आदि व्यक्तियों और अग्नि आदि पदार्थोंमें भगवत् बुद्धि करके जो

उपासनाकी जाती है, वह तदाकार वृत्तिके द्वारा नानात्मक प्रपञ्चसे वैराग्य और एक तत्वके अनुसधानके लिये ही है। इस तदाकार वृत्तिके जो चमत्कार, सिद्धियाँ-दर्शन स्थितियाँ और अनुभूतियाँ हैं, वह जिज्ञासुको अपनेमें आबद्ध करनेके लिये नहीं हैं, प्रत्युत अपनी आत्मा उससे विविक्त असंग द्रष्टा है—यह ज्ञान करानेके लिये ही है। जो उन्हींमें आग्रह कर बैठता है, वह अध्यारोपित आकार-प्रकारमें ही फँस जाता है। इसलिये तत्त्व-जिज्ञासुको इस दिशा में पूर्ण सावधान रहना चाहिये।



विचार-लहरें

★

मैंने बहुतसे लोगोंको देखा है कि वे लहरोंपर शान्त-चित्त ढीले होकर लेटे रहते हैं। तथा वे उन लहरोंके एकदम ऊपर ही रहते हैं और लहरें उन्हें डुबोती नहीं। मैंने एक दूसरे भी मनुष्यको देखा, जो कि तैरना नहीं जानता था, वह जब पानीमें गिरा तो जोर-जोरसे हाथ-पाँव मारने लगा फिर उसके बाद वह डूब गया।

हम संसारियोंकी भी यही स्थिति होती हैं। हम कुछ बनने व कुछ करनेके लिए दिन रात हाथ-पांव मारते रहते हैं, किन्तु फिर भी हम संसार-सागरमें डूब ही जाते हैं। लहरोंसे निकलना असंभव-सा होता है।

कोई भी मनुष्य विचारोंकी दौड़से अपने लक्ष्य परम शान्तिको प्राप्त नहीं कर सकता है। परमशान्तिके लिए तालाबमें उठती हुई लहरोंके ऊपर पड़े हुए निश्चेष्ट मनुष्यकी तरह जब विचारकी तरंगोंके ऊपर तटस्थ होकर देखना शुरू कर देता है, तो ये तरंगें बाधक नहीं होती या डूबनेका कारण नहीं बनतीं, किन्तु उन्हीं तरंगोंके अन्दर यदि हम बिना युक्ति के हाथ-पांव मारें, तो हम डूबे बिना कभी नहीं रह सकते।

मनमें उठते हुए विचरोंको दबानेसे, विचार दबते नहीं हैं। वह तो एक विचार दूसरे को, तीसरेको फिर उससे चौथा विचार फिर जब विचारोके साथ हमारा तादात्म्य हो जाता है अर्थात् विचार प्रबल हो जाते हैं व प्रबल विचारोंकी तरगोंके अन्दर, उन्हें दबानेकी चेष्टा एक बिना तैराकका जलमें हाथ-पांव मारने जैसा ही है।

यह उन लोगोंकी विद्या है जिन लोगोंने किसी तैराकरूपी गुरुसे इस रहस्यको समझ लिया। वर्ना हाथ-पांव मारते हुए तो सारा संसार डूबता चला जा रहा हैं।

—श्रीहरिकिशनदास अग्रवाल

—और कौन जो मुझे संभारे—

और कहूँ क्या प्रियतम प्यारे ?
जब तक जीवन-दीप जले यह,
जब निज ज्योति समेट चले यह,
जहाँ-जहाँ फिर जाए होना, प्राणनाथ ! बस तुम्हीं हमारे ॥

चरण-कमलमें देव ! तुम्हारे,
बचे भ्रमर से प्राण हमारे,
कसे प्रेमकी डोरीमें ये, जाय कहाँ अन्यत्र विचारे ।

सब कुछ तुमपर वार चुकी हूँ,
अविचल निश्चय धार चुकी हूँ,
दासी हूँ मैं जन्म-जन्मकी, एक तुम्हारी, हृदय दुलारे !

चारों ओर निहार लिया है,
भली प्रकार विचार लिया है,
नहीं समस्त त्रिलोकीमें है, मेरा कोई सिवा तुम्हारे ।

'राधा ! राधा !!' कौन पुकारे,
सुधि ले मेरी बिना तुम्हारे,
तुमको छोड़ खड़ी होऊंगी किसके साथ, समीप, सहारे ॥

अपना कहकर जिसे बुलाऊं,
ऐसा नहीं किसीको पाऊं,
इस कुलमें, उस कुलमें; दोनों ही कुलमें, गोकुल में सारे ।

शीतल चरण-सरोज जानकर,
आयी इन्हें शरण्य मानकर,
इनसे ही बुझ सकते मेरे तप्त उरस्थलके अंगारे ॥

यही तुम्हें भी उचित प्राणधन,
अबला एक बिना अवलंवन,
जान मुझे मत ठुकरा देना, कर देना मत कहीं किनारे ।

सब कुछ सोच समझ परखा है,
मेरा केवल एक सखा है,
तुम्हीं प्राणपतिसे मेरी गति, और कौन जो मुझे संभारे ॥

कहीं हुए जो एक-आध पल–
को भी इन आँखोसे ओझल,
बिना नीर ज्यों मीन तड़पती, लगता अब ये प्राण सिधारे ।

दुख दारिद्रच सकल जो टारे,
वह पारस-मणि तुम्हीं हमारे,
कण्ठ-हार निज जिसे बनाकर, रहती सदा हृदयपर धारे ॥

"जिस किसी आश्रममें ही क्यों न रहो उसमें आसक्ति रहित होकर उस आश्रमकी वाह्यनिष्ठासे ऊपर उठकर कृष्ण भक्ति द्वारा बिभावित होकर शुद्ध भक्तोंका आचरण ग्रहण करना चाहिये ।"

कीर्तनका सुख

—एक भजनानन्दी

कीर्तन कलियुगका मुख्य साधन है, यह सहज, सुगम और सुकर होने के साथही महत्वमें अन्य सभी साधनोंसे बढ़कर है—यह बात प्राय: सभी साधक जानते हैं। शास्त्रोंमें तो कीर्तनका महत्व भरा ही हुआ है, अनुभवी सन्त-महात्मा भी इसके अद्भुत और अमोघ प्रभावका गुणगान करते रहते हैं।

हर्षकी बात है कि इस समय कीर्तनका प्रचार सब ओर हो रहा है। किन्तु अभी तक अधिकांश लोग कीर्तनकी परोक्ष महिमापर ही शास्त्रों और सन्तोंके वचनोंके आधारपर विश्वास करते हैं। इसके प्रत्यक्ष लाभका अनुभव बहुत कम लोगोंको है। इसका कारण है, विश्वास और लगनकी कमी। शास्त्रों और युक्तियोंके आधारपर हम जानते हैं कि ईश्वर सर्वत्र है, सबमें है, पर इस सत्यका अनुभव कितने लोग करते हैं? जो ईश्वर हमारे हृदय में, हमारे रोम-रोममें रम रहा हो, उसे हम अपनेसे दूर मानकर निराश हों—यह कितने आश्चर्यकी बात है। हमने इतने दिनों तक साधनाकी, भगवान् नहीं मिले, पता नहीं, भगवान् हैं भी? या योंही लोग भगवान्‌का होना मानते हैं–इस प्रकारके संदेह क्या किसी सच्चे आस्तिकके हृदयमें उठ सकते हैं? भगवान्‌के अस्तित्वपर सन्देह करना अपने अस्तित्वपर संदेह करना है। भगवान् हैं और सर्वत्र हैं— इस सत्यपर दृढ़ विश्वासकी आवश्यकता है, फिरतो भगवान् मिले ही हुए हैं, नित्य प्राप्त हैं। साधनातो उनके अस्तित्वका उनके संयोग का आनन्द उठानेके लिये की जाती है। भूखकी पीड़ा उठानेके बाद ही भोजन मीठा लगता है। विरहकी भावनाके पश्चात् होनेवाली मिलनकी भावना अधिक आनन्ददायिनी होती है। वास्तवमें विरह और मिलन दोनों भावना-जनित है, वस्तु-स्थितिमें तो विरहका अत्यन्ताभाव है, नित्य मिलन है। उक्त विरह और मिलनकी भावना इस वस्तु स्थितिका दर्शन करानेमें बड़ी सहायक है। भावनाभी सच्चे हृदयसे होनी चाहिये, तभी उसका सुख उठाया जा सकता है। परन्तु भावनामें सच्चाई वस्तुकी सत्तापर दृढ़ विश्वास किये बिना हो नहीं सकती। विरहका सुख तभी मिलेगा, जब हम प्रियतमके लिए तड़पते हों, असीम वेदनासे

व्यथित और धधकती हुई ज्वालामें दग्ध हो रहे हों। यह भावना जितनी सजीव-जितनी ज्वलन्त होगी उतनी ही तन्मयता मिलेगी। यही बात मिलनके लिए भी है। मिलनका सच्चा सुख तभी मिलेगा, जब हम प्रियतमसे मिलकर एकाकार हो जांय, उसके सिवा सब कुछ भूल जांय। इस प्रकार सच्चे मिलनकी भावनामें समान रूपसे तन्मयता प्राप्त होती है। भावना द्वारा मिली हुई यह तन्मयता जब बोधगम्य होकर सुदृढ़हो जाती हैं, तो हम साधना का सच्चा आनन्द उठाते हैं, सिद्ध हो जाते हैं।

जिसप्रकार उक्त रूपसे शास्त्र या सन्त-वचनके आधारपर ईश्वरके अस्तित्व या व्यापकत्वपर दृढ़ विश्वास करके ही हम ईश्वरीय आनन्दका उपभोग कर सकते हैं, उसीप्रकार कीर्तनके महत्वपर भी दृढ़ विश्वास करके ही साधनाद्वारा उसके दिव्य आनन्दका साक्षात् अनुभव किया जा सकना है।

शास्त्र और बतलाते हैं—जहां कीर्तन होता है, वहांभगवान् रहते हैं—'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।' अगर इस वचनपर विश्वास हो तो भगवान्के सान्निध्य में कितनी देर है? जहाँ हमारे प्राणाराध्य भगवान् खड़े हों जहाँ प्रियतम हमारा कीर्तन सुननेके लिए वैकुण्ठका सिंहासन छोड़कर उतर आये हों, वहाँ अपने प्रभुको- अपने गिरिधर-गोपालको रिझानेके लिए किस भक्तके प्राण नहीं थिरक उठेंगे? कौन मीराकी भाँति पैरों में घूंघरू बांधकर छम-छम गतिसे अपने जन्म-जन्मके साथीको प्रसन्न करनेके लिए नाचनेमें संकोच करेगा?

इस भावसे कीर्तन करनेमें कितना आनन्द है! कितना सुख है! कौन बता सकता है? यह ठीक है कि—'भाव कुभाव अनख आलस हू। नाम जपत मंगल दिसि दसहू।' किसी तरहसे मुखसे भगवान्का नाम निकल जाय, कल्याण ही है। वस्तुकी यह शक्ति, अश्रद्धा या अविश्वाससे दबाई नहीं जा सकती, तथापि पहलेको भावनाजनित आनन्दका अनुभव होता है, दूसरा इस सुखसे वंचित रहता है। इस अन्तरको कौन दूर करेगा? एक के हृदयमें प्रियतमको निकट पाकर उछाह और उमंग है, दूसरा सन्देह और अविश्वासके कारण अशान्त एवं असंतुष्ट है।

आनन्द और सुख आदि रसके नामान्तर हैं। रसका अनुभव भगवत्तत्वका ही अनुभव है। "रसो वै सः" "आनन्दं ब्रह्म"। "साकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा, के अनुसार किया हुआ कीर्तन नीरस होता है, क्योंकि उसमें रसाभिव्यंजनकी कोई सामग्री नहीं है। किन्तु भाव और श्रद्धासे किये जानेवाले कीर्तनमें निरंतर रसका समास्वादन होता रहता है।

जहां यह भाव है कि आराध्यदेव हमारे समक्ष हमारे निकट खड़े होकर कीर्तन सुन रहे हैं, वहां वे स्वयं आलम्बन रूपमें विद्यमान हैं, उनके सौन्दर्य, एवं वात्सल्य आदि गुण उद्दीपन बन जाते हैं। कीर्तन करनेवाले प्रेमीभक्तोंका हंसना, रोना, स्तब्ध और रोमांचित

होना आदि अनुभाव देखा जाता है और साथ ही निर्वेद, दैन्य, हर्ष, आवेग, जड़ता, उत्सुकता, उन्माद आदि संचारी भावोंका भी संचरण होता रहता है। जहां अभिव्यंजनाकी ये सारी सामग्रियां उपस्थित हों वहां हृदयमें रसकी धारा क्यों न प्रवाहित हो ? ऐसे कीर्तनमें प्रेम और आनन्दकी बाढ़सी आती है, सभी रसमग्न और विभोर हो जाते हैं।

यही कीर्तनका प्रत्यक्ष सुख है। निम्नांकित श्लोकोंमें इस अवस्थाका स्पष्ट चित्रण है।

क्वचिदुत्पुलकः तूष्णीं प्रेमप्रसर-संप्लुतः ।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ।।

"कभी उसके शरीरमें रोमांच हो आता है। प्रेमके प्रवाहमें डूब जानेके कारण उसकी वाणी रुक जाती है—वह मौन हो जाता है और प्रेमानन्दके आंसुओंसे कुछ-कुछ मुंदी हुई उसकी आँखें एकटक देखती रहती हैं।"

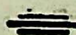
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या,
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः।।

'ऐसा व्रत रखनेवाला प्रेमीभक्त अपने प्रियतम भगवान्‌का नाम कीर्तन करते-करते अत्यन्त अनुरागके वशीभूत हो जाता है, उस समय उसका चित्त द्रवीभूत होने लगता है, कभी तो वह जोरोंके साथ हँस पड़ता है, कभी रोता है, कभी दहाड़ें मारता है, कभी गाने लगता है और कभी अलौकिक अवस्थामें पहुंचकर उन्मत्ताकी भाँति नाचने लगता है।

हमें भी कीर्तनमें इस सुखका अनुभव हो—इसके लिए प्रयत्न करना चाहिए।



जिन्होंने अपने कानोंसे भगवान्‌की कथा नहीं सुनी, उनके कानोंके छिद्र सांपके बिल के समान हैं। जिन्होंने अपने नेत्रोंसे सन्तोंके दर्शन नहीं किये, उनके वे नेत्र मोर पंखोंपर दीखनेवाली नकली आंखोंके समान हैं। वे सिर कड़वी तूंबीके समान है, जो श्रीहरि और गुरुके सामने नहीं झुकते। जिन्होंने भगवान्‌की भक्तिको अपने हृदयमें स्थान नहीं दिया, वे प्राणी जीते हुए भी मुर्देके समान हैं। जो जीभ श्रीरामके गुणोंका गान नहीं करती वह मेंढ़ककी जीभ के समान है। वह हृदय बज्रके समान कठोर और निष्ठुर है जो भगवान्‌के चरित्र सुनकर हर्षित नहीं होता। —श्रीमद्रामचरितमानस



गीता और जन्मान्तर

● आचार्य पं० श्रीदेवस्वरूप मिश्र

आविष्करोतु विबुधैरपि वन्दनीयां,
वाचं स कोऽपि मम वल्लभ सार्वभौमः ।
वंशोऽपि यत्करगृहीततया बिर्भात
वाचालतां त्रिभुमंक विनोदयित्रीम् ॥

संसारमें जो कार्य कोई असाधारण पुरुष भी नहीं कर सकता, उसे जो करे, उस सर्वशक्तिशाली, परम प्रभाव-सम्पन्न तत्त्वको भगवान् ईश्वर परमात्मा प्रभृति शब्दोंसे कहा जाता है। इसीलिये गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

जब भगवान् भी देह या जन्म धारण कर सकते है तो औरोंके लिये क्या कहना है। भलेही भगवान्का देहधारण या जन्मग्रहण दिव्य हो। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं और अपने उस सर्वशक्तिमत्त्वको बतानेके लियेही वे कहते हैं—

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्त देवावगच्छत्वं मम तेजोऽंश सम्भवम् ॥
(गीता १०।४१)

धर्मका फल सुख तथा अधर्मका परिणाम दुःख है, यह सर्वथा तर्क तथा प्रमाणसे सिद्ध बात है। सुख तथा दुःख जोकि धर्म और अधर्मके फलस्वरूप हैं वे बिना शरीरके अनुभवमें नहीं आते। अर्थात् विना शरीरके सुख दुःखका साक्षात्कार प्राणीको हो नहीं सकता। यद्यपि सूक्ष्म शरीरमें ही सुख, दुःख, लज्जा, भय प्रभृति होते हैं तथापि स्थूल शरीरके बिना इन्द्रियोंका अपने विषयके ग्रहणके द्वारा सुख-दुःख अनुभव करानेकी क्षमता नहीं हो सकती। अतः जीवके अपने शुभाशुभ कर्मों के फल भोगनेके लिए स्थूल शरीर पाना आवश्यक है। इसीलिए शरीरका लक्षणही किया

गया-भोगायतन। इसप्रकार किये गये शुभाशुभ कर्म एकही जन्ममें किये गये जितने हैं वे उसी जन्ममें फलदें यह आवश्यक नहीं। अतः जन्मान्तर मानना पड़ता है। क्योंकि भगवान् कृष्णने धर्मके अभ्युत्थान तथा पापके नाशके लिए अपना अवतार घोषित किया है। यदि धर्माधर्म निष्फल रहतेतो उनकेलिए उनका अवतार लेना व्यर्थही होता। दूसरी बात श्री-कृष्णभगवान्ने जन्मान्तरके विषयमें प्रवल प्रमाण यह प्रस्तुत किया कि—

"ऊर्ध्वं गच्छन्तिसत्त्वस्था, मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।"

'क्षीणेषुपुण्येमर्त्यलोकं निवसन्ति' इत्यादि।'

अनादिकालसे जन्मान्तरके विषयमें प्रचलित विवादको शमन करनेमें सभी अवतारों में कृष्णावतार पूर्णसफल रहा। उपनिषदोंमें भी परलोकके विषयमें अनेक प्रश्नोत्तरोंके द्वारा जो विचार हुए हैं वे जन्मान्तर हीके विषयमें तो हैं। किन्तु उपनिषद्के तत्त्वभूत गीतामें उपनिषद् तत्त्वोंको अर्जुनको निमित्त बनाकर हम सभीकेहृदयमें विद्यमान जन्मान्तर संबंधी संशयोंको भगवान् श्रीकृष्णने अपने उपदेश अस्त्रसे छेदन किया। इसीलिये अर्जुनके संशयोंको अनेक अकाट्य युक्तिओंद्वारा समाहित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण जन्मांतरको सिद्ध करते और कहते हैं. 'अर्जुन ! मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हुए।' भला आप सोचें इतनी कृपा करके जिस भगवान्ने जन्मान्तरको सिद्ध किया उसे कौन नहीं मानेगा ?

अर्जुनका गीतामें यह जो प्रश्न था कि जो व्यक्ति भगवान्का भजन करते करते मरगया अभी उसका भजन पूर्ण नहींहो पाया हो। उसका वह सब किया कराया कर्म व्यर्थ है या फलवान् होता है। इसके उत्तरमें यह जो भगवान् श्रीकृष्णका अभिनिवेशपूर्ण एवम् पूर्ण सत्य वचन है कि 'हे अर्जुन ! किया हुआ थोड़ा भी कर्म निष्फल नहीं होता है। यह सर्वथा जन्मान्तरको ही सिद्धि करता है। क्योंकि इस जन्ममें तो वह कर्म करते ही करते मर गया। उसका फलतो जन्मान्तरमें ही रहेगा। अतः जन्मान्तर माने बिना दूसरी गति नहीं है। विशेष मैं क्या कहूं ? जब भगवान्का यह वचन ध्यानमें आता है कि—

'पूर्वाभ्यासेन तेनैव क्रियते ह्यवशोऽपि सः।'

तब यही होता है कि भगवान् यह नहीं कहते तो कभी भी जन्मान्तरके विषयमें सर्वथा अंधकारमें पड़ा समाज प्रकाश नहीं पाता। भगवान्ने कहाकि पूर्वजन्ममें किये कर्मके प्रभावसे ही प्राणी जन्मान्तरमें पुनः शुभाशुभ कर्ममें प्रवृत्त होता है। यह उस अकारण करुणा-वरुणालय अशरण-शरण सर्वप्राणिप्राणभूत सर्वजिज्ञासु जनमनसमाधानकर्ता कर्ता-भर्ता भगवान् श्रीकृष्णकी अनुपम कृपाही माननी होगी कि गीताके उपदेश द्वारा जन्मान्तर विषयक संदेहभी दूर किया।



गीता और गान्धीजी

—श्रीदेवधर शर्मा

गांधीजी और गीताके आपसी सम्बन्धोंका परिचय देनेकी आवश्यकता नहीं है। इतना कहा जा सकता है कि जो सम्बन्ध एक ज्ञानीका ज्ञानसे अथवा एक बेटेका मांसे हुआ करता है, वही सम्बन्ध गांधीजीका गीतासे था।

किन्तु गांधीजी और गीताका सम्पर्क कैसे हुआ, इसकी एक रोचक कहानी है। बात सन् १८८९ की है। तब गांधीजीकी आयु लगभग बीस सालकी रही होगी। उन्हें अध्ययनके लिये विलायत गये एक वर्ष बीत चुका था। वहाँ थियोसाफिकल सोसाइटीके दो मित्रोंसे गांधीजीकी मुलाकात हुई। उन्होंने गांधीजीसे गीताकी बात चलाई। वे दोनों मित्र उन दिनों गीताका अँग्रेजी अनुवाद कर रहे थे। उन्होंने गांधीजीसे संस्कृतमें गीता पढ़नेको कहा। गांधीजी पहले तो संकोच करने लगे, क्योंकि वे तबतक गीताको संस्कृतमें तो क्या, अपनी मातृ-भाषा गुजरातीमें भी नहीं पढ़ पाये थे। बादमें उन्होंने अपने मित्रोंको यह बात बतायी और कहा कि "मैं आपके साथ गीता पढ़नेको तैयार हूँ। यों तो मेरा संस्कृत ज्ञान नहींके बराबर है, फिर भी इतना समझलेता हूँ कि अनुवादमें कहीं गड़बड़ हो तो बता सकूं।"

इस तरह उन मित्रोंके साथ गांधीजीका गीतापाठ प्रारम्भ हुआ। एक बार जब वे दूसरे अध्यायके ये श्लोक पढ़ रहे थे कि—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

तो सहसा गांधीजीकी वाणी थम गयी और वे विचार करनेलगे। इन दोनों श्लोकोंका यह अर्थ है कि विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंसे आसक्ति होती हैं, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है तथा कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उपजता है और मूढ़भावसे स्मरण-शक्ति भ्रमित होती है। स्मरण-शक्तिके भ्रमित होजानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञान-शक्तिका नाश हो जाता हैं और बुद्धि नष्ट होजानेपर मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है अर्थात् वह अपने श्रेय-साधन से गिरजाता है।

गीताकी ये पंक्तियाँ गांधीजीके दिमागमें गूँजने लगीं। उन्होंने उनके हृदयको झकझोर दिया। गांधीजीने स्वयं अपनी आत्म-कथामें लिखा है कि 'इन श्लोकोंका गहरा असर मेरे दिलपर हुआ, कानोंमें उनकी ध्वनि गूँजा करती थी। तभी मुझे मालूम हुआ कि भगवद्गीता तो अमूल्य ग्रन्थ है।'

इस प्रथम परिचयके बाद गांधीजीकी आस्था गीताके प्रति बढ़ती ही गयी। उन्होंने गीताको कण्ठस्थ करनेका निश्चय किया। वे नित्यप्रति प्रातःकाल गीताजीके कुछ श्लोक लिखकर दीवालपर चिपका देते थे और दाँतुन करते-करते मनमें दोहराते जाते थे। स्नान करते-करते गांधीजीको ये श्लोक अच्छी तरह याद हो जाते थे। इस प्रकार गांधीजी ने श्रीमद्भगवद्गीताको तेरह अध्यायोंतक कण्ठस्थ कर लिया। कण्ठस्थ करनेका उद्देश्य केवल पाठ करनेके लिये नहीं था, बल्कि यह था कि गीताके श्लोक गांधीजीके मन-मस्तिष्कमें समा जायें और फिर वे उनके उपदेशों को अपने जीवनमें उतारकर अपना तथा सारे जगत्का कल्याण कर सकें। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमें गांधीजीको सफलता मिली। गांधीजी गीतामय हो गये। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "गीता मेरे लिये धार्मिक-कोष हो गयी है। जिस तरह अपरिचित अँग्रेजीके हिज्जे और अर्थको देखनेके लिये मैं अंग्रेजीके कोषको खोलता हूँ उसी तरह आचार सम्बन्धी कठिनाइयाँ और उलझनोंको मैं गीताजीके द्वारा सुलझाता हूँ। उसके 'अपरिग्रह' और 'समभाव' इत्यादि शब्दोंने तो मुझे गिरफ्तार कर लिया है।"

वास्तवमें गीता द्वारा प्राप्त "अपरिग्रह" और "समभाव" गांधीजीके जीवन-पथके लिये दो महान् प्रकाश-स्तम्भ थे, जिनकी सहायतासे वे निरन्तर आगे बढ़ते गये। इन दोनों सदुपदेशोंके आधारपर ही गांधीजीके जीवनको समझा जा सकता है। जहाँ लोकमान्य तिलकने श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्मयोगका रहस्य खोजा था, वहीं गाँधीजीने इसी कर्मयोगके पीछे अनासक्तियोगको जगमगाते देखा था। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' के बाद 'मा फलेषु कदाचनः' की गंभीरताको गांधीजी भली-भाँति जानते थे। यही कारण था कि वे एक महान् क्रांतिकारी जन-नेता होते

हुए भी एक निर्द्वन्द संत हो गये। उन्होंने गीताके उपदेशोंको अपने जीवनमें उतारने के लिये अन्ततक प्रयत्न किया। यहीकारण था कि जिस दिन भारतके अंतिम वायसराय लार्ड माउन्टबेटन दिल्लीमें भारतकी आजादीकी घोषणा करके शासन-सूत्र भारतीयों को सौंप रहे थे, उसदिन गांधीजी नोआखालीमें साम्प्रदायिक दंगोंको सुलझानेमें व्यस्त थे—प्राणोंको जोखममें डालकर, मानवताकी रक्षाके लिये ! इससे बढ़कर अनासक्ति-योगका उदाहरण और कहाँ मिल सकता है ?

गीताकी प्रेरणासे ही गांधीजी राजनीति और अध्यात्मका समन्वय कर सके। उन्होंने लिखा है कि 'जो लोग कहते हैं कि राजनीतिका धर्मसे कोई सम्बन्ध नहीं, वे नहीं जानते कि धर्मका अर्थ क्या है ? मेरे लिये धर्मसे रहित राजनीतिकी कोई सत्ता नहीं।' किन्तु गांधीजीका धर्म कोई संकुचित अथवा साम्प्रदायिक धर्म नहीं था। यह तो वही मानव धर्म था, जिसकी व्याख्या गीतामें है। गांधीजीके अनुसार 'गीता हिन्दू-धर्मकी नहीं, समस्त मानवधर्मकी पुस्तक है। यह एक ऐसी पुस्तक है, जिसमें साम्प्रदायिकता और धार्मिक अधिकारवादका नाम भी नहीं है। यह मानवमात्रको प्रेरणा देती है।'

महात्मा गांधीका सुप्रसिद्ध 'सत्याग्रह-दर्शन' गीताके आत्म-दर्शनके सिद्धांतपर ही प्रतिपादित था। वे गीतासे प्रेरणा लेकर ही कोई सत्याग्रह करते थे। उनके सत्य और अहिंसाके नियम गीता द्वारा सम्मत होते थे। गांधीजीकी अहिंसाका अर्थ निर्बलता नहीं, अपितु आत्माकी वह 'प्रचण्ड-शक्ति' था—जिसे कोई शस्त्र काट नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती। न जिसे पानी गला सकता है न हवा ही सुखा सकती है। यही वह अपराजय शक्ति है, जिसने भारतसे अँग्रेजी साम्राज्यवादकी गहरी नींव सदा-सदाके लिये निर्मूल करदीं। किन्तु फिर भी वे गीताके के अनुसार अनासक्त रहे। उन्होंने अनासक्तिको ही अपना ध्येय माना। उनका सच्चा स्वरूप उनकी 'अनासक्ति-योग' नामक पुस्तकमें देखा जा सकता है। सन् १९३२ में—जब गांधीजी यरवदा जेलमें थे, उन्होंने गीताका गम्भीर अध्ययन किया और सर्वसाधारणके लिये 'गीता-प्रवेशिका' बनायी, जिसमें गीताके महत्वपूर्ण अंश संकलित थे। उन्होंने अपने आश्रमवासियोंको गीताके प्रति प्रेरित करनेके लिये सरल भाषामें 'गीता-बोध' भी लिखा था। वे कहा करते थे कि गीता हमारी सद्गुरु रूप है, माता रूप है और हमें विश्वास रखना चाहिये कि उसकी गोदमें सिर रखकर संसार-सागरको सही-सलामत पार कर जायेंगे। हम गीताके द्वारा अपनी सारी धार्मिक गुत्थियाँ सुलझा लेंगे। नित्य गीताका मनन करनेवालोंको उसमें नित्य-नये अर्थ मिलते हैं।' आदि आदि। एक जगह वे लिखते हैं कि 'मैं गीताको क्लिष्ट पुस्तक नहीं मानता। निःसन्देह पण्डितोंके लिये उसमें गहनता भी है, परन्तु मेरी सम्मतिमें साधारण बुद्धिके मनुष्यको भी गीताके सरल सन्देशको समझनेमें कठिनाई नहीं होनी चाहिये।'

"विद्यार्थियोंके प्रति गांधीजीका कथन था कि 'गीता निराश होने वालोंको पुरुषार्थ सिखाती है। विद्यार्थियोंकी हैसियतसे तो तुम गीताका ही अध्ययन करो। परन्तु करो भक्तिभावसे। तुम उसमें भक्तिपूर्वक प्रवेश करोगे तो जो तुम्हें चाहिये, वह उसमें मिलेगा। गीता कामधेनुकी भाँति है, जो सम्पूर्ण इच्छाओंकी पूर्ति करती है। इसलिये वह माता कहलाती है। उसमें लाखों बच्चोंके लिये अपने अजस्र थनोंसे दूध देनेकी क्षमता है।"

एक स्थानपर गांधीजीने यह उद्‌गार प्रकट किया है कि 'गीता मेरे लिये केवल एक धर्मग्रन्थ नहीं है, बाइबिल नहीं है, कुरान नहीं है, बल्कि मेरे लिये वह माताके समान है। मुझको जन्मदेनेवाली माता तो चलीगयी, परन्तु संकटके समय गीता–माताके पास जाना मैं सीख गया हूँ। मैंने देखा है कि जो कोई भी इस माताकी शरणमें जाता है उसे वह अपने ज्ञानामृतसे तृप्त करती है।'

इस प्रकार गांधीजी और गीतामें ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित होगया था, जिसका वर्णन करना कठिन है। यदि हम गांधीजीकी तरह गीताको अपना आदर्श बनालें और उसकी शिक्षाओंको अपने जीवनमें लानेकी चेष्टा करें तो हमारा कल्याण होगा और हमारे माध्यमसे समाज एवं देशका भला होगा।



गान्धी–वाणी

★

"हिन्दूधर्ममें अनेक माननीय ग्रन्थोंके होते हुए भी नित्यके और साथ ही गहरे अध्ययन और मननके लिये संस्कृतमें गीता और हिन्दीमें तुलसीदासका 'रामचरित-मानस' ये दोनों ग्रन्थ सबसे अधिक महत्वके और साधारणतः पर्याप्त समझे जा सकते हैं।"

× × × ×

"अनासक्ति-योग गीताका ध्रुव-पद है—अर्थात् कर्मके फलकी अभिलाषा छोड़ कर कर्त्तव्यकर्मोंको सतत करते रहनेका उपदेश उसकी ऐसी ध्वनि है जो कभी भुलाई न जाय। इसमें कर्म-मात्रका निषेध नहीं किया गया है, न यही कहा गया है कि कर्ममें विवेक मत करो? इसमें दुष्कर्मका निषेध है और सत्कर्मको भी फलासक्ति छोड़कर करनेका उपदेश है। सत्य, अहिंसादिके पालनके बिना इस योगकी सिद्धि होना असंभव है।"

•••०○०•••

त्रिवर्ग और चतुवर्गकी मान्यताओं तथा भक्ति सम्बन्धी त्रिविध भावोंके प्रतिपादनका नया दृष्टिकोण—

यत्र योगेश्वर : कृष्णः

—डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम, ए०, पीएच० डी०

स्थूल रूपसे धार्मिक परम्पराओंको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है। १—जीवनलक्ष्यी और २—मृत्यु लक्ष्यी। वैदिक और वैष्णव परम्परायें जीवन लक्ष्यी हैं। वे पुरुषार्थ अथवा भक्तिद्वारा वर्तमान जीवनको समृद्ध बनाना चाहती हैं। वेदोंका स्वर है—

"जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं,
प्रब्रवाम शरदः शतम्, अदीनाःस्याम शरदः शतम्।"

हम सौ वर्ष तक जीयें, सौ वर्ष तक सुनते और बोलते रहें, हममें कभी दीनता न आये।

अध्ययनसे पता चलता है कि प्रारम्भमें वैदिक परम्पराने त्रिवर्गपर ही बल दिया था। वे हैं—धर्म, अर्थ और काम। इनमें काम अर्थात् इच्छापूर्ति साध्य है। अर्थ उसका साधन और धर्म नियामक। उसका कथन था कि जो व्यक्ति धर्मको छोड़कर अर्थ प्राप्ति और कामतृप्ति करना चाहता है, वह समाजके लिये घातक बन जाता है और अन्तमें अपना जीवन भी नष्ट कर लेता है। ईशोपनिषद्में आया है कि—

कुर्वन्नेवेहकर्माणि जिजीविषेच्छतंसमा।

अर्थात् 'व्यक्तिको कर्म करते हुये ही सौ वर्ष तक जीनेकी इच्छा करनी चाहिये।'

कालान्तरमें जब सन्यासको महत्व देने वाली अन्य परम्पराओंका सम्मिश्रण होगया

तो मोक्षको भी चतुर्थ पुरुषार्थ रूपमें स्वीकार कर लिया गया और उसके लिये वृद्धावस्थाको चुन लिया। कणाद तथा गौतमने मोक्षके लिये निःश्रेयस शब्दका प्रयोग किया है। इससे पता चलता है कि वह अवस्था जीवन अथवा अभ्युदयके क्रममें नहीं आती थी। निःश्रेयस का शब्दार्थ है—श्रेयससे परेकी अवस्था। न्यायदर्शनके अनुसार वहाँ चेतना भी नहीं रहती। वह महत्वाकांक्षाका लक्ष्य नहीं हो सकती। इसके विपरीत जो व्यक्ति जीवनसे हार गया है, जो केवल कष्टोंसे छुटकारा चाहता है चाहे उसके लिये मरना ही पड़े वह अपना लक्ष्य मोक्षको बनाता है। बौद्ध परम्पराने तो स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया कि वहाँ कुछ नहीं रहता। आत्मा दीप-शिखाके समान है और उसका बुझजाना ही निर्वाण या मोक्ष है—

उत्तरवर्ती कालमें मोक्षका स्वर तीव्र होगया और उसने भारतीय संस्कृतिको निवृत्ति प्रधान बना दिया। वस्तुतः देखा जाय तो यह जीवनसे भागनेका स्वर है। वेदान्त नैष्कर्म्यणपर बल देता है, किन्तु साधारण व्यवहारमें ऐसे व्यक्तिको निकम्मा कहा जाता है।

ऊपर प्रवृत्ति-प्रधान शाखाकी दो धारायें बताई गयी हैं। वैदिक कर्म-मार्ग और वैष्णव भक्ति-माग। समय बीतनेपर वैदिक परम्परा सिद्धान्त एवं मर्यादाओंमें जकड़ी गई। भगवान् रामचन्द्र इसी आदर्शको उपस्थित करते हैं। उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम कहा जाता है। किन्तु जीवन सिद्धान्तोंकी पकड़में नहीं आता। समय तीव्रगतिसे दौड़ रहा है। मनुष्यके सामने ऐसी परिस्थितियाँ आरही हैं, जिनकी कभी कल्पना भी नहीं थी। प्रश्न होता है ऐसी स्थितिमें मार्गदर्शक किसे बनाया जाय :

इस प्रश्नका उत्तर भगवद्गीतामें मिलता है। महर्षि व्यासने सैद्धान्तिक चर्चामें न पड़कर जीवनका पर्यालोचन किया और उसके विविध पक्षोंको लेकर महाभारतकी रचना की। उसका सार गीताके अठारह अध्यायोंमें प्रस्तुत किया और उसका सार निम्नलिखित श्लोकमें—

यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीति मंतिर्मम॥

व्यासजी कहते हैं कि जहाँ योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धरपार्थ हैं, वहीं पर लक्ष्मी, सफलता और समस्त सम्पत्तियाँ विराजती हैं। यही मेरी नीति है और यही मान्यता अर्थात् सिद्धान्त। यहाँ योगका अर्थ है योजना अथवा काम करनेका ढंग। दूसरे अध्यायमें आया है 'योगः कर्मसु कौशलम्।' भगवान्को योजनाध्यक्ष बनानेका अर्थ है उनके स्वार्थको अपना स्वार्थ मानना, उनके सुखको अपना सुख और उनके मंगलको अपना मंगल। किन्तु भगवान् तो अपने आपमें पूर्ण हैं। उनका अमंगल कौन कर सकता है। यहाँ इसका अर्थ है भगवान्

के परिवारका मंगल। वह समस्त विश्वका पिता है, प्रत्येक स्त्री-पुरुष उसकी सन्तान है—उन्हें सुख पहुँचाना ही भगवान्‌का सुख है। तुलसीदासजीने तो प्रत्येक व्यक्तिको सीता-रामके रूपमें देखनेको कहा है—

सिया राम मय सब जग जानी,
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी।

अर्थात् 'मैं समस्त विश्वको सीता और रामके रूपमें देखता हूँ तथा हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ।'

भगवान्‌को सारथि बनानेका अर्थ है कि प्रत्येक कार्य विश्वमंगलकी भावनासे करना।

पार्थका अर्थ है जीवात्मा। उसे चाहिये कि परमात्माके संकेतका ध्यान रखे और जो आदेश मिले करता चला जाय। ऐसी स्थितिमें मनुष्य उत्तरोत्तर उन्नति करेगा और वह स्वयं अपने लिये तथा परिवार, समाज, राष्ट्र एवं समस्त विश्वके लिये मंगल बन सकेगा।

गीतामें हमारे व्यक्तित्वकी उपमा रथसे दी गयी है। आत्मा रथका स्वामी है। शरीर रथ है। बुद्धि अर्थात् विचार शक्ति सारथि हैं। मन अर्थात् इच्छा शक्ति लगाम और इन्द्रियाँ घोड़े। जिस रथमें लगामपर सारथिका नियन्त्रण होता है, वह लक्ष्यपर पहुँच जाता है। किन्तु यदि लगाम सारथिके हाथसे छूट गया तो घोड़े मनमानी दौड़ लगायेंगे। रथ टूट जायेगा। इसी प्रकार जीवन रूपी रथमें मन रूपी लगामपर बुद्धि रूपी सारथिका नियन्त्रण होना चाहिये अर्थात् इच्छाशक्ति विचार-शक्तिके हाथमें रहे। इसके विपरीत यदि इच्छापर विचारका नियन्त्रण नहीं होता तो इन्द्रियाँ मनमाना दौड़ लगाती हैं और जीवनको नष्ट कर डालती हैं। इसीलिये कहा गया है:—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

विज्ञानका अर्थ है विवेचन-शक्ति, भले-बुरे की पहचान। अर्जुनने यह काम भगवान् को दे दिया और निश्चिन्त हो गया। उन्होंने कहा "मामनुस्मर युद्धं च" मुझे याद रखो और युद्ध करते जाओ। इसका अर्थ है विश्वकल्याणको लक्ष्यमें रखकर संघर्ष करते जाना।

भक्तिके तीन रूप हैं—

१—क्रिया, २—भाव ३—महाभाव। हाथ जोड़ना, शिर झुकाना, पुष्प-पत्र आदि अर्पित करना क्रिया भक्ति है। यह केवल भावना अथवा प्रेम जाग्रत् करनेके लिये होती है।

यदि ऐसा करनेपर भी उपास्यके प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं होता तो वह व्यर्थ है। इसके विपरीत जिस मनमें आकर्षण भरा है, वह कुछ न करनेपर भी परमभक्त है। शिशु माँको न हाथ जोड़ता है न प्रणाम करता है। नववधू अपने प्रियतमके सामने लज्जासे सिर झुकाये खड़ी रहती है, न बोलती है और न कुछ कहती है, किन्तु दोनोंमें भक्तिका प्राचुर्य रहता है। इसतथ्यको लेकर छः भावोंका निरूपण किया गया है। भक्ति-मार्ग इस बातको महत्व नहीं देता कि आकर्षण का क्या रूप है।

हम अपने उपास्यको स्वामी, सखा, माता, पुत्र, पति अथवा उपपति कुछ भी मान सकते हैं। आवश्यकता आकर्षणकी है। मनमें प्रेम आते ही सारी मर्यादायें पीछे छूट जाती हैं। प्रत्येक चेष्टा सहज प्रेरणाका रूप ले लेती हैं।

अनुभूतिका प्रारम्भ विभिन्न भावोंको लेकर होता है, किन्तु परिपाक होनेपर सब एक ही रसमें परिणत हो जाते हैं, केवल आकर्षण बाकी बचता है। इस बातका ध्यान नहीं रहता कि मैं सेवक, मित्र, पुत्र अथवा क्या हूँ। इसी अवस्थाको महाभाव अथवा रस कहा जाता है।

ऊपर बताया जा चुका है कि भगवान् कृष्ण सिद्धान्तवादी नहीं थे, वे जीवनको लेकर चले। उन्हें आनन्दावतार कहा जाता है। वे जानते थे कि किस प्रकार समस्याओंका समाधान करना चाहिये। स्त्री तथा पुरुष, शिक्षित तथा अनपढ़, पुरुषार्थी तथा आलसी, साहसी तथा भीरु, प्रत्येक वर्गके साथ कैसे रहना चाहिये और उन्हें अपना जीवन सुखी बनानेके लिये कौनसा रास्ता अपनाना चाहिये। भगवद्गीतामें इन्हीं बातोंकी चर्चा है। जो अर्जुन व्यामोहके कारण कायर बन गया था वह अन्तमें कहता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत् प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

हे अच्युत ! मेरा मोह दूर हो गया। चेतना लौट आयी, सन्देह दूर होगये। जो तुम कहोगे वही करूँगा।

यहाँ अच्युत शब्द ध्यान देने योग्य है। भगवान् कृष्ण साधनके रूपमें विभिन्न मार्ग अपनाते थे किन्तु साध्यसे विचलित नहीं होते थे। अच्युतका अर्थ है—लक्ष्यपर स्थिर रहने वाला। अर्जुन पारिवारिक मोहमें पड़कर लक्ष्य-भ्रष्ट होगया था। भगवान्ने उसे पुनः स्थिर कर दिया। अच्युतने भक्तको भी अच्युत बना दिया।



श्रीकृष्णकी अग्रपूजा

— श्रीशङ्खपाणि



नारदजीके मुखसे स्वर्गवासी राजा पाण्डुका संदेश पाकर धर्मराज युधिष्ठिरके मनमें राजसूय यज्ञ करनेका संकल्प हुआ। भाइयों, मन्त्रियों, महर्षियों तथा भगवान् श्रीकृष्णने भी इसके पक्षमें अनुमति देदी। श्रीकृष्णप्रेमियोंके उत्कर्षका प्रबल विरोधी मगधराज जरासन्ध वासुदेवके बुद्धि-कौशल तथा भीमसेनके बलसे परास्त हो दिवंगत हो चुका था। भीमसेन और अर्जुन आदि चार भाइयोंने चार दिशाओंके राजाओंको जीत कर उन सबको अपना करद बना लिया था। भगवान्‌की आज्ञासे युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञकी दीक्षा ग्रहण की। देश-देशके राजा, विद्वान् ब्राह्मण, ऋषि-मुनि तथा सगे-सम्बन्धी आमन्त्रित होकर आगये। सबके लिये विश्रामस्थान और भोजन आदिकी समुचित व्यवस्था कर दी गयी।

पितामह भीष्म आदि प्रमुख कौरव-वर्ग यज्ञकी सुव्यवस्थामें दत्तचित्त था। दुःशासनने भक्ष्य-भोज्य आदिका भण्डार संभाला। ब्राह्मणोंकी सेवा-सुश्रूषाका भार अश्वत्थामाने लिया। समागत नरेशोंकी सेवा-पूजाका प्रबन्ध संजयको सौंपा गया। क्या हुआ? क्या नहीं हुआ? इसकी देख-रेख भीष्म तथा आचार्य द्रोणके जिम्मे रही। सुवर्ण एवं रत्नोंकी देख भाल करने तथा दक्षिणा देनेके अधिकारी नियत किये गये थे आचार्य कृप। किस कार्यमें कितना व्यय हो—इसका निर्णय विदुरजी करते थे। राजा दुर्योधन युधिष्ठिरके प्रतिनिधि होकर सामन्तों द्वारा समर्पित भेंट स्वीकार करनेमें संलग्न थे। समागत ब्राह्मणोंके चरण पखारनेका कार्य स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कर रहे थे। अपार धनराशि असंख्य भेंट-सामग्री राजा युधिष्ठिरको प्राप्त हुई। उनकी ओरसे भी दान-मान और दक्षिणाके रूपमें असीम धनराशि बाँटी गयी। खुले हाथ याचकोंको अन्न-वस्त्र एवं रत्न लुटाये गये।

× × × ×

अभिषेचनीयके अवसरपर समागत भूपतियोंका विशेष सत्कार किया जाता है। इसमें मूर्धाभिषिक्त राजा भी सम्मिलित होते हैं। उनमें भी जो सबसे श्रेष्ठ होता है, उसको सबसे प्रथम अर्घ्य प्रदान किया जाता है। युधिष्ठिरने जिज्ञासाकी 'दादाजी, अग्र-पूजाका

सम्मान किसको प्रदान किया जाय ?' पितामह भीष्मने विना किसी हिचकके उत्तर दिया—'भगवान् श्रीकृष्णसे बढ़कर अर्हणीयतम दूसरा कौन है ?' 'जो आज्ञा' कह कर विज्ञ पाण्डव सहदेवने भगवान् श्रीकृष्णको ही सर्वप्रथम उत्तम अर्घ्य अर्पित किया और उन्होंने भी शास्त्रीय विधिके अनुसार वह अग्रपूजा स्वीकार करली।

श्रीकृष्णसे निरन्तर द्वेष रखनेवाला शिशुपाल उनका वह सर्वोपरि सम्मान देखकर जल उठा और इस कृत्यका खुला विरोध करता हुआ बोला। 'मैं इस यादवको ऐसे राजोचित सम्मानका अधिकारी कदापि नहीं मानता। पाण्डव नादान हैं, इन्हें धर्मके सूक्ष्म रूपका कुछ भी पता नहीं है। बूढ़े भीष्मकी बुद्धिभी सठिया गयी है, इनको धर्मशास्त्रका रहस्य विस्मृत होगया है। युधिष्ठिरके धर्मात्मापनकी पोल भी आज खुल गयी। ये सब कृष्णके जादूसे प्रभावित हैं। आश्चर्य तो यह है कि इस गोपालने भी अपनी अयोग्यतापर दृष्टिपात नहीं किया और आगया राजाओंके बीचमें अपनी अग्रपूजा करवाने। अनधिकारी या अपूज्यका पूजन उसके लिये समादर नहीं तिरस्कार है। क्लीवको पत्नी प्राप्त कराना या अन्धेको रूप दिखाना उसका उपहास नहीं तो क्या है ? किन्तु इस मार्मिक व्यङ्ग्यका बोध किसी ग्वारियेको कैसे हो सकता है ? राजाओंके समुदायमें अराजाका अग्रपूजन समागत नरेशोंके लिये घोर अपमानकी बात है। हम पाण्डवोंको इसके लिये कदापि क्षमा नहीं करेंगे।'

ऐसा कह कर चेदिराज शिशुपाल राजसभासे वाहर जानेके लिये खड़ा होगया। कुछ अन्य लोगोंने भी उसका साथ दिया। धर्मभीरु युधिष्ठिर दौड़े हुए उसके पास आगये और अनुनय-विनयपूर्वक उसे रोकनेकी चेष्टा करने लगे।

× × × ×

चेदिराज दमघोषके यहाँ बाहरसे आने-जानेवाले नरेशोंका ताँता लगा हुआ था। एक जाता तो दूसरा आ पहुँचता था। चेदिराज सबका आदर-सत्कार करते और उनकी गोदमें अपने नव-जात शिशुको रख दिया करते थे। सबको आश्चर्य होता उस बालकको देख कर। सब लोग कौतूहल दबाये चले जाते। चारों ओर शोहरत फैल गयी थी और कुछ दिनों तक अनाहूत अतिथियोंके आवागमनका सिलसिला जारी रहा।

बात यह थी कि दमघोषकी रानीके एक पुत्र हुआ था, जिसके चार बाहें और तीन नेत्र थे। वह धरतीपर गिरते ही गधेके समान रेंकने लगा था। माता-पिता और बन्धु-बान्धव उस शिशुको कोई महान् उत्पात मानकर डर गये। सबने उसे घरसे वाहर फेंक देनेका विचार कर लिया। इतनेमें आकाशवाणी हुई—'यह बालक बड़ा शक्तिशाली है इसे त्यागो मत, पालो ? यह शस्त्रसे मरेगा और इसको मारने वाला पुरुष इस भूतल पर प्रकट हो चुका है। जिसकी गोदमें जानेपर इस बालककी दो

भुजाएँ गिर जाँय और तीसरा नेत्र लुप्त हो जाय, उसीके हाथसे इसकी मृत्यु हो सकती है, ऐसा समझना चाहिये।'

उस व्यक्तिकी पहचानके लिये ही राजा-रानी अपने शिशुको सबकी गोदमें बिठाते थे। पर अब तक यह समस्या हल नहीं हो सकी। एक दिन द्वारकासे श्रीकृष्ण और बलराम आ पहुँचे। वे दोनों भाई भी अपनी बुआके उस अद्भुत बालकको देखना चाहते थे। बुआने स्वागत-सत्कारके बाद ज्यों ही शिशुको श्रीकृष्णकी गोदमें दिया, त्यों ही महान् परिवर्तन लक्षित हुआ। बालककी दो बाहें गिर गयीं और तीसरा नेत्र भी विलुप्त होगया। बुआ भतीजेके पैरोंपर गिर पड़ी और रोती हुई बोली—'भैया! मेरे पुत्रको बचाओ।' श्रीकृष्ण बोले—'बुआजी! डरो मत। यह शिशु तो मेरा पालनीय बन्धु है। अतः शिशुपाल नामसे विख्यात होगा। मैं इसे क्यों मारने लगा? मैं तुम्हें यह बचन देता हूँ कि यदि यह मारने लायक अपराध कर बठे तो भी मैं एक, दो नहीं, इसके सौ अपराध लगातार क्षमा करता रहूँगा।

बुआको सान्त्वना मिली। श्रीकृष्ण बलराम द्वारकाको चले गये।

× × × ×

शिशुपालके जन्मकी घटना सुना कर भीष्मने युधिष्ठिरको उसके अनुनय-विनयसे रोका और कहा—यह वासुदेवका बध्य है। इसकी अन्तिम घड़ी निकट आगयी है। चिउंटे की जब मौत आती है, तब उसके पाँख निकल आती हैं और वह स्वयं उड़कर आगकी ज्वालामें जा गिरता है। शिशुपाल भी स्वयं चलकर अपनी मृत्युके पास आ पहुँचा है। इसे कोई बचा नहीं सकता। ज्यों ही इसके सौ अपराध पूरे हुए श्रीकृष्ण इसे आत्मसात् कर लेंगे।

'श्रीकृष्ण सर्वेश्वर हैं, राजाओंके भी अधिराज हैं। इनका अखण्ड, अप्रतिहत और अतुलित ऐश्वर्य नित्य है, शाश्वत है। लोक व्यवहारमें भी देखा जाय तो यहाँ आये हुए समस्त राजा जानते हैं कि महाराज क्रथ और कौशिकने अपना सारा राज्य गोविन्दके चरणोंमें चढ़ा दिया और उन्हीके प्रासादमें स्वयं देवेन्द्रने उपस्थित हो दिव्य उपकरणोंद्वारा इनका 'राजेन्द्र' पदपर अभिषेक किया था। श्रीकृष्ण ज्ञान-विज्ञान तथा बल दोनोंके अनन्त और अगाध महासागर हैं, इनसे बढ़ कर परम पूजनीय तीनों लोकोंमें दूसरा कौन है? यहाँ कौन ऐसा राजा है, जो श्रीकृष्णसे कभी पराजित नहीं हुआ हो। ये साक्षात् परमात्मा हैं, इन्होने अपने एक अंशमें अखिलब्रह्माण्डको धारण कर रक्खा है। शिशुपाल जीतेजी इस सत्यका साक्षात्कार नहीं कर सकेगा। इसके तन-मनपर आसुरी सम्पदाका अधिकार स्थापित हो चुका है। जिन्होंने शैशवावस्थामें पूतनाको मारा, पादस्पर्शसे शकट उलट दिया। कुमा-

रावस्थामें केशी तथा अरिष्टका संहार किया, अघासुर बकासुर तथा कालियका भी दमनकर दिया और सात दिनों तक गिरिराज गोवर्धनको एक अंगुलीपर छत्रकी भाँति उठा रक्खा था, उनको यह साधारण मानव मानता है। जिनके एक ही प्रहारसे पर्वताकार हाथी कुवलयापीड मिट्टीके ढूह-सा ढह गया, जिनके एक ही चाँटेसे चाणूरकी चटनी बन गयी और कंस आकाश देखने लगा, उन भगवान्के प्रति अशोभन वचन मुंहसे निकालनेवाला यह चेदिकुलकलंक क्या जीवित रहनेका अधिकारी है ?'

पाण्डव सहदेव भीष्मकी बातका सहर्ष अनुमोदन करते हुये दर्पभरीवाणीमें बोले—'मैं मानता और अनुभव करता हूँ कि ये श्रीकृष्ण साक्षात् परमेश्वर हैं। इसी बुद्धिसे मैंने इनकी अग्रपूजाकी है। यदि किसीको यह सहन नहीं होता है तो उसके सिरपर मेरा यह पैर है।'

इतना सुनते ही राजाओंका वह अगाध सागर विक्षुब्ध हो उठा। शिशुपालका प्रतिवादी स्वर और भी तीव्रतम हो गया। वह चिल्ला कर बोला—भाटों और चारणोंको भांति एक ग्वालेकी चापलूसी करनेवाले भीष्म बताओ तो सही, पूतनाके मारनेमें इसकी क्या बहादुरी है ? वह तो बगुली चिड़िया थी, निकट आयी, बालकके दाँत गड़ गये, मर गयी। काकतालीय न्यायसे यह घटना घटित होगयी और इसपर कृष्णकी बहादुरीका रंग चढ़ा दिया गया। छकड़ा—अचेतन काष्ठ, सामानसे लदा हुआ। एक बवंडर आया और वह उलट गया। संयोगकी बात, बालकके पैरसे भी वह छू गया था। शकट भंजनके असली रहस्यको छिपा कर इसे कृष्णकी करामातोंकी सूचीमें डाल दिया गया। अब लीजिये यमलार्जुनभंगकी लीला। आकके छोटे पौधे—जैसे दो अमोले। बीचमें आगयी ओखली। पेड़ दब गये। यह भी मान लिया गया, कृष्णके द्वारा संपादित असंभव कर्म ! बकासुर एक बगुलेका बच्चा, कुछ बालकोंने उसे पकड़ लिया और उसकी चोंच पकड़ कर उसे चीर डाला गया। कैसा महान् पराक्रम था। साँप मारा नाग नाथा। जंगली लोग औषधके प्रभावसे ऐसा काम बहुत किया करते हैं। कुछ बड़े होनेपर कृष्णने एक पागल बैल और घोड़ेको दूसरोंकी सहायतासे मार दिया। कितनी बड़ी बहादुरीकी थी ? गोवर्धन उठानेकी बात भी एक ही रही। वह पहाड़ है या दीमकों द्वारा जमाकी हुई मिट्टीका एक ढूहेको उठा लिया और पहाड़ उठानेका ढिंढोरा पीट दिया गया। कहते हैं, वहाँ गिरियज्ञमें एकत्र बहुतसा अन्न—भक्ष्य भोक्ष्य पदार्थ इसने अकेले खा लिया। इस बातसे भी मुझे कोई आश्चर्य नहीं होता। इस तरहके पेटू और भुक्खड़ मैंने बहुत देखे हैं। इन साधारण-सी बातोंको लेकर इसकी प्रशंसाके पुल बांधे जाते हैं, किन्तु इसने अपने मामा कंसकी जो हत्याकी, उसको लेकर इस धिक्कारनेका साहस शायद भीष्ममें भी नहीं है।

शिशुपालकी ये बहकी-बहकी बातें सुनकर भीमसेनके रोषकी सीमा न रही। वे लाल आँखें तरेर दाँत पीसते हुए उसकी ओर झपटे, किन्तु भीष्मजी बीचमें आगये और दोनों हाथोंसे पकड़कर उन्हें शान्त किया। दूसरे ही क्षण श्रीकृष्णके हाथमें सूर्यसदृश सुदर्शनचक्र नाचने लगा। वे बोले—

उपस्थित महर्षियों, विद्वान् ब्राह्मणों, भूपालवृन्द तथा अन्यान्य प्रेमी सुहृद्गण ! राजसूय यज्ञके इस पवित्र वातावरणमें कोई अप्रिय घटना घटे तो यह सबके लिये अत्यन्त खेदका विषय होगा । शिशुपालने जबसे होश संभाला है, तभीसे मुझे अपना द्वेषपात्र मान लिया है । यद्यपि मेरा समस्त प्राणियोंके प्रति समभाव है, किसीके प्रतिभी मेरे मनमें राग या द्वेष नहीं है; तथापि जो जिस भावसे मेरे पास आते हैं, व्यवहार-जगत्में मैं उनके साथ वैसा ही भाव निभाता हूँ । जो मुझे जिस दृष्टिसे देखता है, उसे मैं वैसा ही दिखायी देता हूँ । यह भेद मेरे स्वरूपमें नहीं, देखने वालेकी दृष्टिमें है । दृष्टिभेदसे दर्शनमें भेद होता ही है । लौकिक सम्बन्धकी दृष्टिसे मेरे लिये जैसे पाण्डव हैं, वैसा ही शिशुपाल भी है । दोनों मेरी बुआओंके बेटे होनेके कारण मेरे प्रिय बन्धु हैं । परन्तु पाण्डव मुझसे प्रेम रखते हैं और शिशुपाल द्वेष । यह निर्विवाद है कि जो जैसा करेगा, वह वैसा भरेगा । पाण्डवोंको प्रेमका फल मिलेगा और शिशुपालको द्वेषका । ये फल इनके अपने ही लगाये हुए प्रेम और द्वेष रूपी वृक्षके हैं । मेरे नहीं । मेरी ओरसे जो फल मिलनेवाला है, वह दोनोंके लिये समान है । कोई प्रेमसे भजे या द्वेष से, मेरे भक्तको अन्ततोगत्वा मेरी ही प्राप्ति होगी । शिशुपाल मेरा पुरातन पार्षद जय है जो शापभ्रष्ट होकर अपने अन्तिम शरीरके प्रारब्धको भोग रहा है इसके दिन पूरे होगये हैं, अब शीघ्रही इसका उद्धार होने वाला है । परन्तु इस बात पर शिशुपाल और इसके साथियोंका विश्वास नहीं है । अतः लोकप्रतीतिके लिये इसे दण्ड देनेके पूर्व इसके अपराधोंकी चर्चा आवश्यक है । यद्यपि इसके पापोंकी चर्चा प्रिय नहीं है, तथापि इसकी उद्दण्डता जाने बिना इसकी दण्डनीयता पर सज्जन लोग भी विश्वास नहीं करेंगे । इस राज-समाजमें सबके सुनते हुए इसने मुझे जो कटुवचन (या गाली) सुनाये हैं, उन्हींसे इसके सौ अपराधोंकी पूर्ति होजाती है, तथापि कुछ अपरोक्ष घटनाएँ भी घटी हैं, जिनसे शिशुपालका आततायीपन प्रकट होता है । एक बार जब हम सब लोग प्राग्ज्योतिषपुर गये थे; इसने द्वारकापुरीमें आग लगवा दी थी । भोजराज अग्रसेन रैवतक पर्वतपर विहारके लिये गये थे । इसने सेना सहित वहाँ पहुँचकर उनको बाँध लिया था । दौहित्रके द्वारा मातामहपर किये गये अत्याचारकी यह अद्भुतपूर्व घटना है । मेरे पिताजीके अश्वमेधयज्ञमें विघ्न डालनेके लिये इसने यज्ञिय पशुका अपहरण कर लिया था । यदुवंशी बभ्रुकी पत्नी सौवर देशको जा रही थी; उस समय इसने मार्गमें आक्रमण करके उस असहाय अबलाका अपहरण किया था । अपने सगे मामाकी पुत्री भद्राका, जो इसको नहीं चाहती थी, इस नराधमने बलपूर्वक अपहरण कर लिया था । इन पूर्वकृत अपराधोंके अतिरिक्त वर्तमान समयमें इसके द्वारा जिस उद्दण्डताका परिचय दिया गया है, वह आप सबके प्रत्यक्ष है ।'

दूसरे ही क्षण लोगोंने देखा सुदर्शनचक्र शिशुपालके मस्तकपर जा पहुँचा है । मस्तक कटकर गिरा । उसके शरीरसे एक दिव्य ज्योति प्रकट हुई और श्रीकृष्णके चरणोंका स्पर्श करके उन्हींमें समा गयी ।

भूतलसे द्युलोक तक गोविन्दके जय-जयकारका तुमुल घोष गूँज उठा । महर्षियोंने स्तवन किये और देवताओंने फूल बरसाये ।

भारतकी रक्षा करो-मुरारी

धर्म, विप्र, गौओंके रक्षक संतोंके भयहारी,
शरणागत आरत भारतकी रक्षा करो मुरारी !

रिपुओंका समूह सीमापर खड़ा दहाड़ रहा है,
धरतीकी क्या बात दुष्ट दल खोद पहाड़ रहा है ।
भारतपर अभियान-योजना भौमासुरकी भारी,
सुप्त हुए किस गुप्त देशमें चक्र सुदर्शन-धारी !
काल यवन-तन-दहन-नीति वह पुनः चलाओ न्यारी,
शरणागत आरत भारतकी रक्षा करो मुरारी !

वंशीधर अब अधर तुम्हारा पाञ्चजन्य फिर चूमे,
होश सहित रणरोष जोश ले प्राण-प्राण उठ झूमे ।
दुर्योधनका दर्प-दरण हो दुःशासन दब जाये,
गाण्डीवीके संग भीम भी गुर्वी गदा उठाये ।
महासमरमें सीमाओंके, विजय प्राप्त हो भारी,
शरणागत आरत भारतकी रक्षा करो मुरारी !

रिपुदलके प्रति मन्यु युक्त अभिमन्यु आज घर-घर में,
पैदा हों स्वराष्ट्र रक्षणहित कूद पड़ें संगरमें !
कुटिल कुचक्रोंका वैरीके चक्रव्यूह वे तोड़ें,
भारत माँकी कटी भुजाओंको फिरसे वे जोड़ें !
धर्म राज्यका विजयकेतु फिर फहराये शुभकारी,
शरणागत आरत भारतकी रक्षा करो मुरारी !

—कृष्ण किङ्कर

शान्तिका अग्रदूत

—पण्डितराज श्रीराजेश्वर शास्त्री, द्राविड़, पद्मविभूषण

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

पौरस्त्य एवं पाश्चात्य राजनीतिकी परस्पर तुलना करनेपर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पाश्चात्य नीतिज्ञोंकी विचारसरणीकी अपेक्षा भारतीय नीतिशास्त्रज्ञोंकी विचारसरणी सभी दृष्टियोंसे श्रेष्ठ तथा पूर्ण है । इस लेखमें इसी तथ्यका दिग्दर्शन कराया जायगा । भारतीय विचारधारामें प्रवतीर्ण होनेपर यह बात समझमें आ जायगीकि भारतीय राजनीतिमें न केवल पाश्चात्य राजनीतिका समन्वय भरा पड़ा है वरन् पाश्चात्य राजनीतिमें जो त्रुटियाँ हैं उन्हें खोल-खोलकर उनके संशोधनोंका भी विचार किया गया है । भारतीय राजनीतिपर प्रकाश डालनेसे पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि वास्तवमें नीति कहते किसे हैं ? इससे यह बात समझमें आ सकेगी कि पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोणोंमें क्या अन्तर है । फिर यह सहज ही ध्यानमें आ जायगा कि पाश्चात्योंके अभिलषित मार्गोंकी रूपरेखा किस प्रकार भारतीय नीतिके महत्वपूर्ण लक्षणोंमें गर्भित है ।

नीतिका लक्षण यों कहा है—"प्रत्यक्षपरोक्षानुमानप्रमाणत्रयनिर्णीतायां फलसिद्धौ देशकालानुकूल्ये सति यथासाध्यमुपायानुष्ठानलक्षणा क्रिया नीतिर्नयः ।" (उपाध्याय-निरपेक्षा)

अर्थात् प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमान इन तीनों प्रमाणोंसे जो फलसिद्धि निश्चित हो, उसके लिए देश और कालके अनुकूल यथाशक्ति योजना करनेका ही नाम नीति या नय है ।

उपर्युक्त लक्षण इतना दूरदर्शितापूर्ण है कि इसमें किसी मतवादीको नुक्ताचीनीका अवसर कहीं मिल नहीं सकता । शब्द प्रामाण्यपर आधारित अनुष्ठान केवल "धर्म" नामसे सम्बोधित होते हैं और जब प्रत्यक्ष एवं तर्क द्वारा भी हितका प्रतिपादन मिलता है तब उस अनुष्ठानकी संज्ञा "धर्म" न रहकर उसे "नीति" सम्बोधन प्राप्त हो जाता है। इसका मतलब

यह हुआ कि "नीति" "धर्म"से बाहर नहीं है। प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा जिस अनुष्ठान का हित समझमें आता है उसे न करना अथवा शंका कुशंका करके वैठना स्पष्टही भयानक भूल कही जायगी।

इन बातोंसे स्पष्ट हो जाता है कि नीतिके विषयमें चार्वाक्, बौद्ध और आस्तिक इन तीनों ही के स्वीकार्य प्रमाणोंका समन्वय होना ही चाहिए। इसपर कोई ऐसी शंका सहज ही उठा सकता है कि "अदृष्टसे प्रत्यक्षका मेल कैसे वैठ सकेगा?" इसका उत्तर यह है कि ऊपर-ऊपर देखनेमें जो अदृष्ट दृष्टिगोचर नहीं हो पाते उनके बारेमें "वेदान्तसूत्रमुक्तावली" के मर्मपर ध्यान देना चाहिये। उसमें कहा है कि "अदृष्ट सर्वथा अदृश्य नहीं होता, कुछ अवस्था में वह दृश्यकोटिमें भी आता ही है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यों समझ सकते हैं—'अग्निहोत्रमें शुद्ध रूपसे प्रदत्त आहुति जलरूप धारणकर सूर्यमण्डलमें प्रवेश करती है, इसके ही सहारे पंचभूतोंकी सूक्ष्म मात्राएं भी सूर्यमण्डलमें जाकर वहां इंधनका कार्य करने लगती हैं। आगे वे ही मात्राएं वृष्टि रूपसे पृथ्वीपर और पृथ्वीसे अन्नमें प्रविष्ट होती हैं। इस प्रकार अन्न द्वारा पुरुषके शरीरमें वही मात्राएं रस, रक्त, धातुरूपमें परिणत हो जाती हैं और वहाँसे स्त्रीके उदरमें पहुँचकर वही आहुति "पिण्ड" (गर्भ) रूप धारणकर लेती हैं।

इसे यों समझें कि नवनिर्मित होनेवाले शरीर एवं मनमें यदि बल, पुष्टि, स्फूर्ति, संस्कार, धारणा, मेधा, तुष्टि आदि गुणोंका संग्रह बढ़ाना अभीष्ट हो तो संस्कारों द्वारा आहुतिकी शुद्धि संरक्षित रखनी ही होगी।

इसप्रकार, यह बात स्पष्ट हो गई कि जलके रूपमें भिन्नता न रखनेके कारण ही अदृष्ट प्रत्यक्ष रूपमें आ सका। मतलब यह कि इससे नीतिके लक्षणमें कोई विधान नहीं आता। यही बात भगवान् कृष्णने गीतामें कही है—

"तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।"

जलमें आया हुआ वह अदृष्ट स्थूल रूप है और उसीका सूक्ष्मरूप परमात्माकी प्रसन्नता है, जिसे परमात्माकी माया, परमात्माकी इच्छा या प्रकृतिकी लीला भी कहा जाता है। परमात्माकी विविध इच्छाओंमें से किन्हीं इच्छाओंको मीमांसक जन "शाब्दी भावना" नामक पारिभाषिक संज्ञासे सम्बोधित करते हैं। वेदके विधि भागमें व्यवहृत 'शाब्दी-भावना'का अन्वय करनेमें मीमांसकोंने नीतिके पूर्व कथित लक्षणोंपर पूरी दृष्टि रखी है। इसका मतलब है कि "शाब्दी भावना"की जानकारी पा लेनेपर, अपने कर्तव्योंमें उसका बड़ा हितकारी प्रयोजन है, ऐसा अनुमान आदिसे समझ लेना चाहिए और तदनुकूल ही व्यवहार भी करना चाहिए। संक्षेपमें यों कहा जा सकता है कि "शाब्दी भावनाको समझ लेनेके बाद,उसके निर्दिष्ट अनुष्ठानमें प्रवृत्त होनेसे पहले यदि तर्कपूर्वक उसकी हितकारिताका विश्वास अपनेमनमें जम जाय तब ऐसा माना जा सकता है कि "शाब्दी भावना" का सम्बन्ध "आर्थी-भावना" (अर्थात् जन-प्रवृत्ति) से हुआ। इस प्रकार नीतिके साथ घुलामिला धर्मानुष्ठान मानवमात्रके चित्तको आकर्षित करनेवाला होना ही चाहिए। अन्यथा—

"यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य, तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।
उपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥"

लोकानुभवपर आधारित कविकी उपर्युक्त उक्ति मिथ्या ठहरेगी ।

ऊपर कहा जा चुका है कि नीतिमें तीनों प्रकारके प्रमाणोंका समन्वय रहता ही है । इस तथ्यका विरोध पृथ्वीतलपर वर्तमान कोई भी दल नहीं कर सकता । ऐसा कथन कहाँ तक पुष्ट है, यह बात आगेके विवेचनसे स्पष्ट हो जायगी और समझमें आ जायगाकि उक्त तथ्य निर्विवाद है ।

आप इसे यों समझें कि मानवसमाजमें अनेक दल दिखलाई पड़नेपर भी, यदि आप उनका वर्गीकरण करें तो उन्हें मुख्यतः दो ही दलोंमें विभक्त किया जा सकता है। (१) शब्द प्रमाणवादी तथा (२) केवल प्रत्यक्ष और अनुमानवादी । उक्त दोनों प्रकारके दल आज कोई नये नहीं उत्पन्न हो पड़े । सृष्टिके आरम्भकालसे ही ऐसे दो दलोंका अस्तित्व पाया जाता है । यह बात भी निर्विवाद है कि उक्त दोनों ही दल अपनी-अपनी शक्ति भर देश-हित साधनकी भावनासे प्रयत्न किये बिना रहते नहीं । दोनों ही की दृष्टिका समन्वय करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्गकी समृद्धि ही उनका लक्ष्य होती है । यह भी प्रकट है कि उनके उक्त लक्ष्य (देश-हित आदि) की उपादेयता यदि शब्द, प्रत्यक्ष और तर्क इन तीनों मार्गोंसे समझायी जा सके तब तो "मीठा और वह भी भर कठौती"के समान वह किसीकी भी गुणग्राहकताको आकृष्ट किये बगैर न रहेगी । ऐसे समस्त प्रमाणोंसे संयुक्त हितकारिताका विवेचन यथास्थान पाठकोंके समक्ष आयेगा ।

यह भारतीय नीति नवमतवादियोंके बीच प्रत्यक्षवादी चार्वाकने भी स्वीकार कर रखी है। उदाहरणार्थ चार्वाकका यह सूत्र कि "नीतिकामशास्त्रानुसारेण वर्तनं धर्मः" प्रसिद्ध ही है । मतलब यह कि चार्वाकके अनुसार भी "नीतिके अनुकूल चलना ही धर्म माना गया है । इसीप्रकार, अनुमानवादी बौद्धधर्म वाले भी अपने वाग्भटादि वैद्यक-ग्रन्थोंमें मुक्तकण्ठसे घोषित करते हैं कि चार वर्णोंकी व्यवस्था और १६ संस्कार अर्थ एवं कामकी समृद्धिके लिए कारणभूत हैं ।

जिस प्रकार उपर्युक्त दोनों दल भारतीय राजनीतिका अनुगमन करते देखे जाते हैं उसी प्रकार, नीतिका अनुसरण यदि साहित्य और नाट्यकी प्रणालीसे ठीक ठीक उतारा जा सके तो उसे देख पशु आदि भी नीति-नायकके पदानुसरणमें आनन्द अनुभव करते हैं, यह बात मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीने अपने चरित्रसे सिद्ध कर दिखलादी है । इतना समझ लेनेपर भी यदि सन्देह बना रह जाय तो उसे सन्देहकी गुंजाइशकी अपेक्षा आत्मघातका न्योंता ही समझना चाहिये, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं ।

इस प्रकार, सर्वप्रमाण और सर्वदलोंका समन्वय करते हुए भारतीय राजनीति सभी के हितका उपदेश करती है, जिसकी प्रशंसा वेद भी मुक्त कण्ठसे करते हैं ।

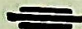
"तस्य श्रद्धैव शिरः, ऋतं दक्षिणः पक्षः, सत्यमुत्तरः पक्षः, योगआत्मा, महः पुच्छं प्रतिष्ठा, तदप्येष श्लोको भवति" (तै० उपनि०) इस मन्त्रका अर्थ यह है कि "तीनों प्रकार के प्रमाणोंसे पुष्ट ज्ञानका ही नाम विज्ञान है। इसी विज्ञानका यहाँ गरुड़ पक्षीके रूपमें निरूपण किया गया है। "श्रद्धा"को उसका मस्तक बतलाया गया है, "ऋत" और "सत्य" ही उसके पंख हैं। इसमें "सत्य"से मतलब प्रत्यक्ष और अनुमानका और "ऋत्"से मतलब "शब्द" प्रमाणका लिया गया है। इन तीनों प्रकारके प्रमाणोंका समन्वय करते हुए चित्त-वृत्तिको स्थिर करना ही इस गरुण पक्षीकी "आत्मा" है। यदि इस "सत्य" और "ऋत" के बीच किसी प्रकार सम्बन्ध विच्छेद हो जाय तो "विज्ञान"का रहना, न रहना बराबर हो जायगा। नीतिपर लक्ष्य न रहा तो फिर देशमें सर्वत्र पथभ्रष्टता ही छा जायगी। इसी आशयसे 'सत्योऽपि हि न सत्यस्ता दण्डनीतेस्तु विप्लवं।' यह भारतीय राजनीतिके आचार्यश्री कामन्दकका कथन यथार्थ ही है। इसी रीतिसे 'सत्यं त्वर्तेन परिषिञ्चामि' आदि मन्त्रोंका भाव भी होना चाहिय।

वेद आदिके द्वारा प्रशंसित नीतिके कर्तव्य जिस प्रकार भारतीय राजनीति शास्त्रमें दिखलाये गये हैं, उसी प्रकार प्राश्चात्य राजनीतिमें भी हम भारतीयोंको प्राप्त हो सकते हैं। ऐसी दशामें, हम भारतीय चाहे प्राच्य अथवा पाश्चात्य किसी भी राजनीतिशास्त्रका अभ्यास करें तो इसमें औचित्यकी दृष्टिसे कोई बाधा नहीं आती, ऐसा भी किन्हीं लोगोंका मत है। तथापि, वेदानुयायी भारतीयोंके बतलाये न्यायपूर्ण सिद्धांतोंके आधारपर यही कहना होगा कि हम भारतीयोंको प्रथम भारतीय राजनीति शास्त्रको ही समझकर देशके भीतर अपनी नीति निर्धारित करनी चाहिए। इसका मूल कारण यह है-हम भारतीय विशेषरूपसे नियम-विधिमें बंधे हुए हैं। कारण, उस विधिसे संभव होनेवाले अदृष्टोंका रक्षण हमारे लिए आवश्यक है। यह बात मीमांसा-शास्त्रमें आये एक सरल उदाहरणसे पाठकोंके ध्यानमें आ जायगी। अमावस्या और पूर्णिमाके समय "दर्शपूर्णमासेष्टि" नामका जो यज्ञ किया जाता है, उसीके सिलसिलेमें 'व्रीहीनवहन्ति' नामक एक विधि वैदिकोंके सामने आती है। इस विधिका मतलब यह है कि चावल निकालनेके लिए धान कूटा जाय अर्थात् कुटाईसे धान की भूसी अलग कर चावल निकाला जाय। इस कार्यमें जैसे कुटाईसे भूसी अलगकी जाती है, उसी प्रकार नख या मशीनसे भी भूसी अलग करनेकी बात आ सकती है। ऐसी दशामें, प्रश्न उत्पन्न होगा कि कौनसे मार्गका अवलम्बन उचित होगा? ऐसे प्रसंगमें 'व्रीहीनवहन्ति" ऐसा वैदिक वाक्य सामने आनेपर विद्वानोंको यही न्यायपूर्ण निर्णय करना पड़ा कि "चावल प्राप्त होने पर्यन्त धानकी कुटाई ही होनी चाहिये, नख या मशीनका इसमें उपयोग नहीं करना चाहिये।" इसमें कुटाईका यदि अदृष्टसे ही सम्बन्ध रहता तो एकबार कुटाई हो जाने मात्रसे काम चल सकता था। पर, बात ऐसी नहीं है। कारण उपर्युक्त विधिका लक्ष्य चावल निकालनेमें है। जहाँ तक दृश्य फलकी कल्पना मनुष्यके सामने आती है वहां वह अदृष्टकी ओर अपनी बुद्धि नहीं दौड़ाता, यह मनुष्यका स्वभाव ही है। इस प्रकार, इस विधिका लक्ष्य दृष्ट चावल निकालनेमें ही है तो फिर उसे कुटाईके द्वारा निकालनेकी जो

विधि उसमें कही गयी, उसका कोई विशेष प्रयोजन नहीं रह जाता । ऐसी दशामें, विधिकी जहां व्यर्थता प्रकट होती है, वहां उसे नियम-विधिके रूपमें मान्य करना अर्थात् अन्य उपायों का परित्याग करना ही इष्ट है । मतलब यह कि धानकी भूसी निकालनेके लिए नख या मशीनसे काम न लिया जाए ।

इसी सिद्धान्तके आधारपर कहना होगा कि चावल निकालनेके समान ही दृश्यफल वाले धर्म, अर्थ और कामकी समृद्धिके लिए जिस नीतिका व्यवहार आवश्यक है उस संबंध का उपदेश प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही शास्त्रोंमें मिलनेपर भी, हम भारतीयोंको अपने ही शास्त्रसे बात समझकर नीति निर्धारित करनी चाहिए, यह नियम स्वीकार करना होगा । प्रसंगवशात् यह कह देना भी अनुचित न होगा कि उपर्युक्त विधानके अनुसार धानकी कुटाई की जानेपर भी एकाध चावलपर छिलका (भूसी) रह जाना भी संभव है और उसभूसी को हटानेके लिए चावल कूटना सम्भव नहीं हो सकता । कारण इसमें वह चावल ही टूट जायगा । ऐसी दशामें नखका उपयोग कर वह भूसी हटा देना ही ठीक होगा । नियम विधि का प्रचलन अपने दैनिक व्यवहारमें (दाहिने हाथसे भोजन करनेकी तरह) और अदालतमें भी (बायें चलोके रूपमें) देखनेमें आता है । इस प्रकार, यदि योग्य नीतिका निर्धारण भारतीय शास्त्रोंद्वारा सर्वथा ही सम्भव न हो तब अन्य शास्त्रोंमें कहे अनुसार कार्य करनेपर हम भारतीयोंके लिए उपर्युक्त नियमोल्लंघनकी बाधा नहीं रहेगी ।

सर्वदलोंके अनुकूल और तीनों ही प्रमाणोंसे समन्वित अनुष्ठान भारतीय राजनीति-शास्त्रमें सर्वत्र बतलाये गये मिलते हैं । इनमें जिन अड़चनोंकी गुत्थियां पाश्चात्य लोग आज तक सुलझा नहीं सके हैं उन्हींपर, आरंभिक कथनानुसार, विचार करनेका अवसर यहां उपस्थित है । इनमें अनेक गुत्थियोंके बीच एक गुत्थी "परराष्ट्रोंसे हुई संधियां' भी हैं । इन संधियोंका विचार भारतीय राजनीति शास्त्रके दूसरे विभागमें किया गया है । भारतीय नीतिशास्त्र मुख्यतः दो भागोंमें विभाजित है । प्रथम विभाग "स्वराष्ट्रमण्डल" सम्बन्धी और दूसरा विभाग "परराष्ट्रमण्डल" सम्बन्धी है । आचार्य कामन्दकने "नीतिसार" नामक ग्रन्थके आरम्भमें २ से ७ सर्ग पर्यन्त ''स्वराष्ट्रमण्डल''का सांगोपांग विचार किया है ।



"मनकौ धन है प्रेमरस, तनकौ धन है धर्म ।
कन कनमें प्रभुके चरन, यहै ज्ञानकौ मर्म ॥"



गीता सुगीता कर्तव्या

—श्रीगीतानन्द—

बुद्धिसे परे कौन है?



गीताके माहात्म्यमें कहा गया है कि उपनिषदोंकी श्रुतियां गौएं हैं, गोपालनन्दन श्यामसुन्दर दुहने वाले हैं, बछड़ा अर्जुन (या जीव) है और गीतामृत दुग्ध है। इस दुग्ध का पान करते हैं शुद्धबुद्धि वाले मनीषी जन। उक्त गीतामृतकी एक तरङ्गपर विद्वान् पुरुषों ने जो विचार प्रस्तुत किया है, उसे यहां पाठकोंके मनोरंजनके लिये उपस्थित किया जाता है। वह तरङ्ग निम्नांकित श्लोक हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धि र्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ३।४२)

इस श्लोककी अवतरणिका प्रस्तुत करते हुए भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—

पहले कहा गया है कि 'इन्द्रियोंको वशमें करके कामरूपी शत्रुका परित्यागकर।' सो किसका आश्रय लेकर कामका त्याग करे ? यह बताया जाता है—

बाह्य, परिच्छिन्न और स्थूल देहकी अपेक्षा सूक्ष्मता, अन्तरस्थता और व्यापकता आदि गुणोंसे युक्त होनेके कारण श्रोत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रियोंको पण्डितजन पर अर्थात् उत्कृष्ट कहते हैं। इन्द्रियोंकी अपेक्षा (उक्त गुणोंके ही कारण) संकल्प विकल्पात्मक मनको श्रेष्ठ कहते हैं और मनकी अपेक्षा निश्चयात्मिका बुद्धिको उत्कृष्ट बताते हैं।

इसी प्रकार जो बुद्धिपर्यन्त समस्त दृश्य पदार्थोंसे अभ्यन्तर है तथा जिसके विषयमें कहा गया है कि 'देहधारी (जीवात्मा)को इन्द्रिय आदि आश्रयसे युक्त काम ज्ञानावरण द्वारा मोहित किया करता है', वह बुद्धिका भी द्रष्टा परमात्मा सबसे परे है ।

उक्त श्लोककी व्याख्या विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायके प्रवर्तक आचार्य श्रीरामानुज इस प्रकार करते हैं—

[पूर्व श्लोकमें कहा गया है कि इन्द्रियोंको इन्द्रिय-व्यापाररूप कर्मयोगमें अवरुद्ध (स्थापित) करके तू ज्ञान-विज्ञानके नाशक इस पापी कामको निश्चय ही मार डाल ।] अब ज्ञानके विरोधियोंमें जो प्रधान है, उसका वर्णन करते हैं—

ज्ञानका विरोध करनेमें इन्द्रियोंको प्रधान बताते हैं; क्योंकि जब तक इन्द्रियां विषय सेवनमें लगी हुई हैं, तब तक आत्मविषयक ज्ञान नहीं होता है । इन्द्रियोंसे भी बढ़कर ज्ञान-विरोधी मन है; क्योंकि इन्द्रियोंके उपरत होनेपर भी यदि मन विषयोंकी ओर झुका है तो आत्मज्ञान नहीं हो सकता । मनसे भी बढ़कर ज्ञानविरोधिनी बुद्धि है, क्योंकि मनके विषयान्तरोंसे विमुख होनेपर भी यदि बुद्धि विपरीत निश्चयमें लगी है, तो आत्मज्ञान नहीं होता है । बुद्धि पर्यन्त समस्त करण विषयोंसे उपरत हो जांय, इसके बाद भी यदि जिसका नाम इच्छा है, वह रजोगुणसे उत्पन्न काम वर्तमान रहता है तो वही इन इन्द्रिय, मन और बुद्धि को भी अपने-अपने विषयोंमें लगाकर आत्मज्ञानमें अवरोध उत्पन्न कर देता है; इसलिये कहते हैं कि जो बुद्धिसे भी बढ़कर विरोधी है, वह काम है ।

तत्त्व प्रकाशिका नामक टीकाके प्रणेता केशव काश्मीरीने भी आचार्य रामानुजकी उपर्युक्त व्याख्याको ही अपने ग्रन्थमें उद्धृत किया है । नई बात उन्होंने यही की है कि इस व्याख्याके समर्थनमें युक्ति प्रदर्शितकी है और उस उक्ति द्वारा परमतके खण्डनका प्रयास किया हैं । वे कहते हैं 'इन्द्रियाणि पराण्याहुः । इस श्लोकके पहले (४१) और बादवाले श्लोक (४३) में भी 'काम' ही प्रकृत है; अर्थात् कामका ही प्रकरण चल रहा है, अब मध्यवर्ती श्लोक ४२ में भी 'सः' पदेन 'काम'का ही परामर्श होना चाहिये । अन्य व्याख्याकारोंने जो 'सः' पदसे देही (सर्वान्तर आत्मा) का परामर्श किया है, वह असंगत है; क्योंकि अव्यवहित (काम) का परामर्श न करके व्यवहित्त (देही) का परामर्श पण्डित जन नहीं किया करते हैं ।

इन दो के सिवा किसी व्याख्याकारने 'सः' पदसे 'काम'को नहीं ग्रहण किया है । आचार्य शङ्करकी व्याख्या ऊपर दी गयी है । अन्य टीकाकारोंने भी प्रायः उन्हींके मतकी पुष्टिकी है । अमृत तरङ्गिणीकार कहते हैं—बुद्धिसे उत्तम आत्मा ही है । आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने भी 'पर आत्मा' कहा है । श्रीधरने भी 'सः' पदसे 'आत्मा'को ही ग्रहण किया है—स आत्मा देहिशब्दोक्तः । सदानन्दने सर्वसाक्षी द्रष्टाको ही बुद्धिसे पर माना है—सर्वसाक्षी परोद्रष्टा । धनपति सूरिने 'बुद्धेर्द्रष्टा परमात्मा' कहा है । दैवज्ञ सूर्यभी इसी भावके समर्थक हैं—सर्वान्तरः स आत्मा । श्रीराघवेन्द्रने 'सः' पदसे परमात्मा विष्णुका परामर्श किया है ।

इन दो प्रकारकी व्याख्याओंमें कौन यथार्थ है और कौन अयथार्थ यह एक विचारणीय प्रश्न है। आचार्य शंकर तथा आचार्य रामानुज दोनों ही महान् विचारक विद्वान् तथा महात्मा हैं; इनमेंसे किसीको भी भ्रान्त कहना दुस्साहस मात्र है। तथापि इन द्विविध दृष्टिकोणोंकी समीक्षा तो की ही जा सकती है।

बहुमतके इस युगमें भगवान् शङ्करकी विचारधाराका अनुगमन करनेवाले अधिक व्याख्याकार दृष्टिगोचर होते हैं। कामपरक व्याख्यासे अनेकों भी संतोष नहीं होता है; क्योंकि कामके तीन ही अधिष्ठान बताये गये हैं—इन्द्रिय, मन, और बुद्धि। जब बुद्धि-पर्यन्त सभी करण विषयोंसे उपरत हो जायेंगे तो आश्रयविहीन काम तो स्वयं ही मर जायगा। कामको मनोभव कहा गया है। मनको वशमें कर लेनेपर तो काम स्वतः अवरुद्ध हो जाता है। नीति आदि शास्त्रोंमें वारम्बार कहा है कि मनको जीतो, मनके जीत लिये जानेपर सब कुछ जीत लिया जाता है। अतः बुद्धिसे परे जो आत्मा या परमात्मा है, उसका साक्षात्कार होनेसे ही मन-बुद्धि पूर्णतः विजित होते हैं और तभी निराश्रयका भी हनन संभव है। अतः सः' पदसे व्यवहित 'परमात्मा'का परामर्श ही युक्तिसंगत जान पड़ता है। अव्यवहित होनेपरभी 'काम'का परामर्श बुद्धिग्राह्य नहीं है। जिस श्रुतिका यह दुग्ध है, उसमेंभी बुद्धिसे परे कामकी परिगणना नहीकी गयी है।



आकांक्षा

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवास जगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

[श्रीमद्भागवत १०।१०।३८]

भगवन्! मेरी वाणी आपके गुणकीर्तनमें लगी रहे। मेरे कान आपकी लीला-कथा सुननेमें संलग्न रहें। मेरे हाथ आपकी सेवाके कार्यमें और मन आपके चरणोंके चिन्तनमें तत्पर रहे। मेरा मस्तक आपके निवासभूत जगत्को नमस्कार करनेके लिये झुका रहे और मेरी आंख आपके स्वरूपभूत संतजनोंके दर्शनमें निरत रहें।

—

भगवान् बुद्ध और उनका दर्शन

(बुद्ध-जयन्तीके उपलक्ष्यमें)

—श्रीदर्शनानन्द

कपिल वस्तुके सम्राट शुद्धोधन इक्ष्वाकुवंशी नरेश थे। देवराज इन्द्रके समान विशाल वैभव उनके चरणोंमें लोटता था। उनकी राजधानी सब प्रकारके सुख-भोगकी सामग्रीसे सम्पन्न थी। उनका राजसदन देवेन्द्र भवनको तथा उपवन नन्दनवनको लज्जित करते थे। राजकुमार सिद्धार्थ या शाक्यसिंह इसी सदनकी शोभा थे। महाराज शुद्धोधनकी आशा इन्हींपर केन्द्रित थी। इनका जन्म लुम्बिनी काननमें हुआ था। इनकी माता इन्हीं को जन्म दे कृत कृत्य हो जीवन-मरणके बन्धनको पार कर गयी थीं। राजकुमारी यशोधरा इनकी प्रेयसी थीं तथा राहुल एकमात्र संतान। राजकुमार केवल शब्दसे ही नहीं अर्थसे भी सिद्धार्थ थे। इनका कोई भी लौकिक अर्थ असिद्ध नहीं था। सुराङ्गना सरीखी सेविकाएँ इनकी सुख-सुविधाका संपादन करती थी। संगीत कुशला नर्तकियाँ इनके मनोरंजनमें जुटी रहती थीं। दुःख चिन्ता या विरक्ति देने वाला कोई भी भाव इनके समक्ष प्रस्तुत नहीं होने पाता था।

इतने पर भी एक ही झटकेने इनका जीवन बदल दिया। जिन घटनाओंको हम नित्य बारंबार देखनेपर भी सचेत या सजग नहीं होते हैं; वे ही शुद्धोधन-कुमारके सम्मुख विद्युद्विलासकी भाँति आकर इनके जीवनमें भारी विरक्ति भर गयीं। वृद्ध, रोगी तथा शवके दर्शन मात्रसे इनके समक्ष संसारकी असारता तथा जीवनकी क्षणभंगुरता मूर्तिमती हो उठी। वे निकल पड़े राजसुखको ठुकराकर सुख और शान्तिकी खोजमें। यशोधराका प्यार

उनके पैरोंमें बेड़ी न डाल सका।' राहुलके प्रति स्वाभाविक मोह-ममता भी उन्हें कर्तव्यके पथसे डिगा न सकी।

उन्होंने गयामें तपस्याकी और बुद्धत्व प्राप्त किया। काशीमें आकर धर्मचक्रका प्रवर्तन किया। संसारके ज्ञानपिपासुओंको दुःखसे छूटनेके उपाय बताते हुए वे देश-देशमें घूमते रहे। यज्ञके नामपर होने वाली घोर पशुवलिकी निन्दा करके उसे बंद कराया और जन-मानसमें अहिंसा धर्मकी प्रतिष्ठापनाकी। जीवनके अवसानकी वेलामें वे पावा होते हुए हिरण्यवती तटवर्ती कुशीनगरके शालवनमें आये और वहीं पूर्णिमाकी रातमें महा परिनिर्वाण प्राप्त किया। कुशीनगर एक महान् बौद्धतीर्थ बन गया। इन दिनों वैशाखी पूर्णिमासे लेकर ज्येष्ठ पूर्णिमा तक वहाँ भारी मेला प्रति वर्ष लगने लगा है।

बौद्ध दर्शन—

'विवेक विलास' नामक ग्रन्थमें बौद्ध मतका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार प्राप्त होता है—बौद्धोंके आराध्य देवता हैं भगवान् सुगत (बुद्ध)। उनकी दृष्टिमें यह विश्व क्षणिक या क्षणभंगुर है। चार आर्य सत्य उनके यहाँ तत्त्व माने गये हैं। वे इस प्रकार हैं—दुःख, आयतन, समुदाय तथा मार्ग। संसारी जीव रूपी वृक्षके जो स्कन्ध (शाखाएँ) हैं, उनको दुःख कहा गया है। ये स्कन्ध पाँच हैं—विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा रूप। आयतन बारह हैं—पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच विषय, मन तथा बुद्धि। मनुष्योंके हृदयमें उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष, मद-मान आदि दोषोंका जो समुदाय है, वही समुदय या समुदाय है। इसीको 'आत्मात्मीय स्वभाव' नाम दिया गया है। उक्त समुदाय ही दुःखका साधन है। इस दुःखसे छूटनेके लिये इस प्रकार भावना की जाती है—सब कुछ क्षणिक है, क्षणिक है, दुःख है, दुःख है, स्वलक्षण है, स्वलक्षण है, शून्य है शून्य है। इस चतुर्विध भावनाके दृढ़ होनेसे जो तत्त्वज्ञान होता है, उसीका नाम मार्ग है। वही मुक्तिका द्वार है, अतः उसे 'मोक्ष' कहा गया है। बौद्धोंके यहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण माने गये हैं। इनके चार सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक। वैभाषिक लोग बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष सिद्ध मानते हैं, उसके लिये अनुमानकी अपेक्षा नहीं रखते। सौत्रान्तिक लोग बाह्य और बौद्ध वस्तुओंकी भी सत्यता स्वीकार करते हैं। योगाचार बौद्ध पदार्थोंकी सत्यता और बाह्य पदार्थोंकी शून्यता मानते हैं। माध्यमिक लोग तो शून्यवादी हैं ही। बाह्य पदार्थ उनकी दृष्टिमें शून्य हैं। वे अपने भीतर होने वाली संविद्को ही स्वीकार करते हैं। चारों बौद्ध सम्प्रदायोंमें रागादिज्ञान सतान-वासनाके उच्छेदसे ही मोक्ष माना गया है।

जो लोग योगका अनुष्ठान न करके केवल आचार (गुरुपदेश) का ही अवलम्बन करते हुए मध्यममें स्थित रहे, वे माध्यमिक कहलाये। माध्यमिक दर्शनके अनुसार जितनी वस्तुसत्ता है, जितना भाव है, वह सब क्षणिक, दुःख, स्वलक्षण तथा शून्य हैं। उनके यहाँ

सत्त्वका लक्षण है—अर्थ क्रिया कारित्व। जिन्होंने योग (अप्राप्तकी प्राप्तिके लिये पर्यनुयोग) तथा आचार (गुरुपदेश) दोनोंको स्वीकार किया। वे योगाचार कहलाये पूर्वोक्त चार भावनाओंको स्वीकार करके भी वे आन्तर ज्ञानको शून्य नहीं मानते।

जिन्होंने बुद्धदेवके सूत्र (संक्षिप्त वाक्य) का अन्त (रहस्य) जाननेका दावा किया वे सौत्रान्तिक कहलाये। इनके मतानुसार पूर्वोक्त स्कन्धों (शाखाओं) द्वारा बाहर भीतर फैला हुआ जो ज्ञानात्मक वृक्ष है, उसीको आत्मा कहा गया है। यही सुख-दुःखका स्थान और सुखादिका साधन भी है। ऐसी भावना करके उसके निरोधका उपाय करना होगा। यह उपाय तत्त्वज्ञान साध्य है। पूर्वोक्त रीतिसे दुःख और आयतन आदिको जानकर पूर्व निर्दिष्ट भावना चतुष्टयकी दृढ़ता हो जाने पर मोक्ष होता है। जिन्होंने अपनी समझके अनुसार बुद्धदेवकी विभाषा (भाषण) का रहस्य समझा, उनके अनुयायी वैभाषिक कहलाये।

आधुनिक बौद्ध विचारक दर्शन शास्त्रमें बौद्धोंकी मौलिक देनका गुणगान करते हैं। वे बौद्ध सिद्धान्तकी विस्तृत आलोचना द्वारा अपना सुस्पष्ट मत व्यक्त करते हैं कि इस दर्शन का अन्य दर्शनोंपर भी गहरा प्रभाव पड़ा है। यह बुद्धिवादपर अवलम्बित स्वतन्त्र दर्शन है, इसने दूसरे दर्शनोंसे अपना पृथक् अस्तित्व सुरक्षित रखा है। इसकी तर्कसंगत मान्यताएं किसी भी आस्तिक या नास्तिक दर्शनकी अनुगामिनी नहीं हैं। नीचेकी पंतियोंमें उनके कथन का सारांश दिया जाता है।

भारतवर्षकी संस्कृतिका सुदूरवर्ती देशोंमें जो साम्राज्य स्थापित हुआ, इसका श्रेय बहुत कुछ भगवान् बुद्धको ही है। लंका, ब्रह्मदेश, श्याम, जावा, सुमात्रा, चीन, जापान, कोरिया तथा मंगोलिया आदि भूभागोंमें भी बौद्ध संस्कृतिका किसी समय विशेष प्रचार-प्रसार रहा है। स्थापत्य कला, मूर्तिकला तथा चित्रकला आदि ललित कलाओंके क्षेत्रमें भी भारतका विश्वविख्यात गौरव बौद्ध संस्कृतिकी ही देन है। साहित्य जगत्में विख्यात बौद्ध महाकवि अश्वघोषने जो भास, कालिदास और शूद्रक आदिसे भी प्राचीन माने जाते हैं, 'बुद्ध चरित्र' नामक महाकाव्य तथा 'शारिपुत्र नामक' नाटकका निर्माण किया था। दर्शनके क्षेत्र में भी बौद्ध दर्शनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पौरस्त्य दर्शन हो या पाश्चात्य दर्शन, सर्वत्र परमार्थ वस्तुतत्त्वका निरूपण अथवा वस्तु तत्त्वका परमार्थतः निरुपण एक मौलिक समस्या है। इस समस्याके समाधानका प्रयत्न पाश्चात्य दर्शनमें फ्रेंच दार्शनिक डेकार्टके समयसे ज्ञानसिद्धान्त विवेचनकी दृष्टिसे आरम्भ हुआ। परन्तु भारतीय दर्शनमें वस्तु तत्त्वके निरुपणके लिये प्रामाण्यके स्वरूपकी स्थापना प्राचीन कालसे ही उपलब्ध है। इस निबन्धमें परमार्थ तत्त्वका निरुपण ही संक्षेपसे प्रस्तुत किया जाता है। इससे भारतीय दर्शन और विश्व दर्शनमें बौद्धदर्शनका कितना योगदान है? इसका आकलन किया जा सकता है।

बौद्ध दर्शनको न केवल वैदिक दर्शनोंसे, जैन और लोकायत दर्शनोंसे भी विभाजित करनेवाली रेखा 'अनात्मवाद' ही है। अनात्मवादका सामान्य अर्थ सर्वविदित होनेपर भी उसका गूढ स्वरूप प्राय: सबको अवगत नहीं है। मनुष्यों तथा अन्य प्राणियोंमें कोई चेतना शक्ति है, जिसके द्वारा ज्ञान, इच्छा आदि मानसिक व्यापारोंका सम्पादन होता है, उसी शक्तिको 'आत्मा' कहा जाता है। वह आत्मा विभिन्न जन्मोंमें विभिन्न योनियोंमें अपने कर्म फलका भोग करता हुआ अग्रसर होता है। ऐसे किसी आत्माको पुनर्जन्मके सिद्धान्तका अनुमोदन करते हुए भी बौद्ध दार्शनिक नहीं स्वीकार करते हैं, परन्तु वैदिक मतावलम्बी तादृश आत्माकी सत्ता स्वीकार करते हैं। बौद्धोंके अनात्मवादका ऐसा स्वरूप प्रायः सबको विदित ही है। किन्तु यदि वस्तुगत्या विचार किया जाय तो बौद्धोंके अनात्मवादका स्वरूप अत्यन्त गम्भीर प्रतीत होता है। उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है। बौद्धोंकी यह निश्चित मान्यता है कि जैसे प्रवाह रूपसे आपतित ज्ञान, इच्छा आदि मनोधर्मोंका समाहार कोई स्थिर आत्मा नहीं है, उसी प्रकार नील, पीत आदि जो बाह्य जगतमें अनुभूयमान धर्म हैं, उनका समाहारक द्रव्य रूप स्थिर बाह्य वस्तु भी नहीं है। जैसे आत्मा केवल मानसिक कल्पना है, उसी तरह स्थिर द्रव्य आदि भी केवल मन:कल्पित वस्तु हैं। इस दृष्टिसे बौद्धोंका अनात्मवाद अद्रव्यवाद रूप ही सिद्ध होता है। इस रीतिसे अनात्मवादका व्यापक अर्थ अवगत हो जानेपर सुतरां यह निश्चय हो जाता है कि न केवल वैदिक दर्शन ही, जैन तथा लोकायत दर्शन भी आत्मवादके मानने वाले हैं। जैन लोग पुद्गल रूपसे बाह्य वस्तुकी सत्ता स्वीकार करते हैं। इसी तरह लोकायत (चार्वाक) दर्शनके अनुयायी चेतन आत्माका निराकरण करते हुए भी बाह्य वस्तुओंका स्थिर रूप अङ्गीकार करते हैं। इस प्रकार द्रव्यवाद मान लेनेसे उक्त दोनों दार्शनिक (जैन और लोकायतिक) भी वैदिक दार्शनिकोंके समान आत्मवादी ही सिद्ध होते हैं। केवल बौद्ध ही अनात्मवादी हैं। अनात्मवादका दर्शनशास्त्र अथवा आधुनिक विज्ञानमें जो भी मूल्याङ्कन किया जाय, इतना तो सुनिश्चित ही है कि अनात्मवादका सिद्धान्त बौद्धोंकी मौलिक देन है।

बोधिवृक्षके नीचे तपस्या करते हुए तथागतने जिस तृष्णातत्त्वका साक्षात्कार किया था; वही इस अनात्मवाद का मूल है। स्थिर आत्मा स्वीकार करनेपर रागद्वेषादि दोषोंका क्षय असंभव हो जायगा--यह बौद्ध दार्शनिकोंने उच्च स्वरसे घोषणाकी है। बौद्ध दर्शनको जो चार विचार-वीथियाँ हैं, उन सबका निदेशक यह अनात्मवाद ही है। इस सिद्धान्तका अवलम्बन करके ही वे परमार्थतत्त्वका निरूपण करते हैं।

सम्पूर्ण दर्शनशास्त्रमें मुख्यत: चार विचारधाराएँ काम करती हैं। १–बाह्यार्थवाद, २–विज्ञानवाद, ३–लोकातीत ज्ञानवाद तथा ४–निरपेक्ष तत्त्ववाद। बाह्यार्थवादियोंमें बौद्ध वैभाषिकोंकी गणनाकी जाती है। लोकायतिकोंका भी यही मत है। आस्तिकदर्शनोंमें न्याय वैशेषिक, पूर्वमीमांसा तथा माध्ववेदान्ती भी इसी श्रेणीके अन्तर्गत हैं। इस विचारधाराके अनुसार बाह्य वस्तुओंके रूपमें अनुभूत होने वाले सारे पदार्थ सत्य हैं।

ज्ञानवादके अनुसार समस्त अनुभूयमान पदार्थ ज्ञानरूप ही हैं, तदतिरिक्त उनकी सत्ता नहीं है। भारतीय दर्शनोंमें बौद्धोंका योगाचार सम्प्रदाय इस मतका प्रतिष्ठापक है। आचार्य शङ्करके उत्तरवर्ती कालमें लिखे गये कुछ वेदान्त ग्रन्थोंमें भी दृष्टि सृष्टिवादके नामसे इसका उल्लेख मिलता है।

तीसरी विचारधारा उक्त दोनों वादोंका समन्वय है। इसे 'लोकातीत ज्ञानवाद' नाम दिया गया है। बौद्ध दर्शनमें दिङ्नाम सम्प्रदायका आधारभूत सिद्धान्त यही है। इसके अनुसार हमें जो बाह्य पदार्थोंका ज्ञान होता है, उसका एक अंश बाह्य है और अपर अंश ज्ञानरूप है। काण्ट नामक जर्मन दार्शनिकने अपने ग्रन्थमें इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है।

चौथा जो निरपेक्ष तत्त्ववाद है, उसके अनुसार हमें जितने पदार्थोंका ज्ञान होता है, वह सब सापेक्ष है यथार्थ तत्त्वज्ञान बुद्धिसे अतीत है, अतएव निरपेक्ष है। यह सिद्धान्त नागार्जुन द्वारा स्थापित माध्यमिक सिद्धान्तका आधारभूत है। यही शून्यवादके नामसे व्यवहृत होता है। 'श्चेरवात्स्की' नामक रूस देशीय तत्त्वज्ञ विद्वान्‌ने अपने ग्रन्थमें इस सिद्धान्तकी विशद व्याख्याकी है। यही शून्यवाद सकल नाम रूपसे अतिक्रान्त 'नेति नेति' इस शब्दसे द्योतित शाङ्कर वेदान्तभिमत अद्वैत सिद्धान्तकी भी आधार शिला है।* इन सिद्धान्तोंके और भी बहुतसे भेद-उपभेद हैं।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें बौद्ध विचारकोंकी मान्यताके अनुसार अनात्मवाद (अद्रव्यवाद या शून्यवाद) का संक्षिप्त परिचय दिया गया। बौद्ध ऐसा मानते हैं कि वैदिक विचार धारापर उनका प्रभाव पड़ा है। कमसे कम आचार्य शङ्कर एवं तदुत्तरवर्ती दार्शनिकोंको तो अवश्य ही बौद्ध विचारोंने प्रभावित किया है।

परन्तु श्रुतियोंके अनुशीलनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सद्वाद और असद्वाद ये दोनों विचार धाराएं अनादिकालसे प्रवाहित होती चली आ रही हैं। छान्योग्य अध्याय-६ खण्ड २ के प्रथम मन्त्रमें सद्वादकी स्थापनाकी गयी है और पूर्वपक्षके रूपमें असद्वादकी उत्थापना करके दूसरे मन्त्रमें उसका सयुक्तिक खण्डनकर दिया गया है। यह असद्वादही नास्तिक दर्शनोंकी आधार शिला हैं। आचार्य शङ्करने असद्वादको वैनाशिकों (बौद्धों) का मत बताया है।

---

* मायावाद मसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च। (पद्मपुराण)

भागवत-रस

—श्रीमधुव्रत



श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध १।९में ऋषियोंने सूतजीसे प्रश्न किया है कि आपके मतमें मनुष्योंके लिये एकान्ततः श्रेयः साधक कर्म क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर सूतजीने द्वितीय अध्यायके छठे श्लोकमें इस प्रकार दिया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति ॥

'मनुष्योंके लिए वही परम (सर्वोत्कृष्ट) धर्म है; जिससे भगवान् श्यामसुन्दरमें हेतुरहित एवं अविचल भक्ति हो, ऐसी भक्तिसे हृदय आनन्दस्वरूप नन्दनन्दनकी उपलब्धि करके प्रसन्न कृत कृत्य हो जाता है ।

इस श्लोकमें आये हुए परमधर्मके स्वरूपका विवेचन करते हुए श्रीधर स्वामी कहते हैं—धर्म दो प्रकारका है–एक प्रवृत्तिलक्षण और दूसरा निवृत्तिलक्षण । जिसका स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके लिये अनुष्ठान किया जाता है, वह प्रवृत्ति लक्षण धर्म है । उसीको अपरधर्म कहते हैं । परन्तु जिस धर्मसे श्रवणादिरूपा भक्ति (नवधा भक्ति)की प्राप्ति होती है, वह परधर्म है, वही मनुष्योंके लिये एकान्ततः (कभी व्यभिचरित न होनेवाला) श्रेयःसाधक है । वह भक्ति कैसी हो ? अहैतुकी । हेतु अर्थात् फलके अनुसन्धानसे रहित । साथही वह अप्रतिहत हो । कितने ही विघ्न क्यों न आवें ? वह उनसे प्रतिहत—अभिभूत न हो ।

वीरराघवाचार्यने उक्त श्लोकमें निम्नांकित दो प्रश्नोंका उत्तर माना है—१ प्रश्न—निरतिशय श्रेय क्या है ? और २–उसका साधनभूत धर्म क्या है ? इनका उत्तर यों है—गर्भ, जरा, मरण आदि अनेक रूप संसारकी निवृत्ति पूर्वक ब्रह्मानन्दानुभवरूप मोक्ष ही निरतिशय श्रेय है । उसका साधनभूत धर्म है—परब्रह्मोपासनात्मक, विजातीय प्रत्ययान्तर

से अव्यवहित, एवं प्रत्यक्ष अनुभूत होनेवाली प्रेमलक्षणा भगवान्‌की भक्ति ही। इस भक्ति की सिद्धि होती है फलेच्छारहित वर्णाश्रम धर्म, ज्ञानयोग, शम-दम आदिसे तथा सत्संग आदिकी प्रणालीसे भगवद्‌गुणश्रवण आदिमें रुचि उत्पन्न करनेके द्वारा। इसी रहस्यका प्रतिपादन करनेके लिये पहले कहते हैं कि जो भक्तियोगका अनुग्राहक हो वही वर्णाश्रम प्रयुक्त धर्म श्रेष्ठ है। परन्तु उससे भिन्न जो फलकामनासे किया जानेवाला कर्म है, वह संसार बन्धनका हेतुभूत होनेके कारण अनर्थकारी है। यही बात 'स वै' इत्यादि तीनों श्लोकों द्वारा कही जाती है। अर्थात् जिस वर्णाश्रमानुकूल फलाशा रहित धर्मके अनुष्ठानसे भगवान् अधोक्षजमें भक्ति हो, वही मनुष्योंके लिये परम उत्कृष्ट धर्म है। भक्तिके दो विशेषण हैं—अहैतुकी अर्थात् फलोपाधिसे रहित और अप्रहिता अर्थात् विघ्नोंसे उपहत न होनेवाली। जिस भक्तिसे आत्मा सुप्रसन्न होता है अर्थात् पहले थोड़ी भक्ति होती है, फिर उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वह चित्तको निर्मल बनानेमें हेतुभूत हो जाती है। अथवा 'ययाऽऽत्मा सुप्रसीदति' इस वाक्य द्वारा चित्तकी प्रतिरूपताका प्रतिपादन किया जाता है। अनुकूल ज्ञानसे ही चित्त-प्रसाद होता है। प्रतिकूल ज्ञानसे तो चित्तमें विक्षेपही हुआ करता है। अनुकूल ज्ञानका ही 'आनन्द' 'सुख' तथा प्रीति आदि भिन्न-भिन्न पर्यायों द्वारा कथन होता है। 'अप्रतिहता'की जगह 'अव्यवहिता' पाठ हो तो उसके द्वारा भक्तिकी तैलधारावत् अविच्छिन्न स्मरण प्रवाह रूपताका वर्णन होता है।

जीव-गोस्वामीका कथन है कि सब शास्त्रोंका सारभूत श्रेय है साक्षात् भगवान् श्री-कृष्णके आविर्भाव संबन्धी प्रश्नसे लक्षित उनकी भक्ति। वही सर्वोतम है, इस बातका ज्ञान कराने के लिए कहते हैं—स वै इत्यादि से लेकर 'अ तो वै कवय:' इत्यादि ग्रन्थ तककी बात। जिस धर्मसे भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति हो, उनकी कथा सुनने आदिमें रुचि हो, वही परम-धर्म है। 'धर्मः स्वनुष्ठितः' इत्यादि श्लोकमें यही बात व्यतिरेक द्वारा दिखायेंगे। वही श्रेष्ठ धर्म है। आगे चलकर भी कहेंगे कि 'भलीभाँति अनुष्ठानमें लाये गये धर्मकी सिद्धि इस बात में है कि इसके द्वारा भगवान् श्रीहरि संतुष्ट हों।' इस रीतिसे श्रीहरिके संतोषके लिये किया गया धर्म ही, पर—सबसे उत्कृष्ट है। निवृत्तिमात्र लक्षण जो धर्म है, उसको भी पूर्ववत् परम धर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जैसे अन्यकर्मोंमें भगवद्विमुखता है, वैसे ही उसमें भी है, अतः वह भी उत्कृष्ट धर्म नहीं है। जैसा कि श्रीनारदजीने व्याससे कहा है– 'नैष्कर्म्यं' भी यदि श्रीहरि विषयक अनुरागसे वर्जित है, तो उसकी कोई शोभा नहीं है।' 'जब उसकी यह दशा है तो जो भगवान्‌को अर्पित नहीं किया गया, वह अभद्र कर्म कैसे शोभा पा सकता है।' इत्यादि। अतः वह धर्म ऐकान्तिक श्रेयका साधक है। इससे यह बात भी कह दी गयी कि भक्ति उस धर्मसे भी पृथक् एवं श्रेष्ठ है। अब उस भक्तिके स्वरूपभूत गुणको बताते हैं–वह स्वतः सुखस्वरूप होनके कारण अहैतुकी है, उसके प्राप्त होनेपर तदतिरिक्त किसी फलान्तरका अनुसन्धान नहीं होता है। उससे ऊपर या बढ़कर दूसरा सुखद पदार्थ न होने से वह किसी अन्य पदार्थसे उपहत या व्यवहित नहींकी जा सकती।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने श्रवन-कीर्तन आदिको ही परम धर्म बताया है। जैसा कि कहा गया है—'लोकमें मनुष्योंके लिये इतना ही परमधर्म माना गया है, कि भगवान्‌के नाम-श्रवण आदिके द्वारा उनमें भक्तियोग दृढ़ हो'* अतः 'पर' विशेषणसे विशिष्ट धर्म भक्तियोग ही हो सकता है। तथा यहाँ मतुप् प्रत्यय और एवकारके द्वारा भक्तियोगसे भिन्न' धर्मकी परधर्म वाच्यताका निषेध कर दिया गया है। यदि भक्तियोग ही परम धर्म है, उससे अधो-क्षजमें होनेवाली भक्ति क्या है ? वह भक्ति है प्रेमलक्षणा। अहेतुकीका अर्थ है बिना किसी अन्य हेतुके ही उत्पन्न होनेवाली। इससे सगुणा भक्तिको पृथक् कर दिया गया। यह अप-लाप नहीं है। श्रवण कीर्तन आदिरूप जो धर्म है, वह भक्ति ही है, किन्तु वह साधनभक्ति है। वही परिपाकावस्थामें प्रेमलक्षणा भक्ति कहलाती है। वे दोनों भक्ति शब्दसे ही प्रति पादित होती हैं। उसमें भी—

'भक्त्या संगतया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्।'
'यतो भक्तिरधोक्षजे'

इत्यादि वचनोंमें कथित उत्तरभाविनी भक्तिमें पूर्वभाविनी भक्ति कारण होती है, ठीक उसी तरह, जैसे उत्तरकालमें पके आममें पूर्वकालिक कच्चा आम कारण होता है। यह कारणता अपने से अभेदसंबंधको लेकर ही बालकोंको समझानेके लिए कल्पित है, वास्तविक नहीं। जैसे एक ही पुरुषकी बाल्य, यौवन आदि अनेक अवस्था होती हैं, उन अवस्थाओंमें हेतुहेतुमद्भावकी कल्पना यथार्थ नहीं है। घट, पट और ओदन आदिमें मिट्टी, रुई और चावल आदि कारणोंके नाम और रूपका जैसे लोप होता है, वैसी बात यहाँ नहीं कहीं जा सकती।

यदि कहें भक्तिका कारण तो सत्सङ्ग ही है, जो सुप्रसिद्ध है, तो ठीक नहीं, क्योंकि—

'आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजन क्रिया।'

इत्यादि वचनोंमें साधुसङ्गको भक्तिकी दूसरी भूमिका बताया गया है। 'स्यान्महत्से-वया विप्राः' इत्यादि वचनोंमें आगे चलकर ऐसी ही व्याख्याकी जायगी। इसके सिवा, दान, व्रत, तप, और होम आदि निष्काम कर्मयोग भी ज्ञानाङ्गभूना सात्त्विकी भक्तिका ही किसी तरह हेतु होता है, निर्गुणा भक्तिका नहीं। जैसा कि एकादश स्कन्धमें कहा गया है—

---

* एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मःपरः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामश्रवणादिभिः॥

यन्न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्याय संन्यासः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि ॥

'यत्नशील पुरुष भी उस निर्गुणा भक्तिको कर्मयोग, सांख्ययोग, दान, व्रत, तप, यज्ञ, व्याख्यान, स्वाध्याय तथा संन्याससे भी नहीं पा सकता ।'

यदि कहें, निर्गुणा भक्तिका हेतु भगवत्कृपा ही है, तो उस भगवत्कृपाका क्या हेतु है और उस हेतुका भी क्या हेतु । इस प्रकार अनुसन्धान करनेपर अनवस्था दोष आ जायगा। यदि कहें, उपाधि रहित केवल भगवत्कृपा ही निर्गुणा भक्तिका हेतु है तो ठीक नहीं; क्योंकि ऐसी कृपा सर्वत्र अभिव्यक्त न होनेके कारण भगवान्में विषमता-दोषका प्रसंग प्राप्त होगा । यदि भक्तकृपाको ही हेतु मान लिया जाय तो कहीं कोई असामञ्जस्य नहीं रहेगा । उत्तम भक्तोंमें वैषम्य न होनेपर भी—

'प्रेममैत्री कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ।'

'जो प्राणियोंपर प्रेम, मैत्रीभाव, कृपा और उपेक्षा भी करता है, वह मध्यम कोटिका भक्त है ।

इस वचनके अनुसार मध्यम भक्तके लक्षणमें विषमता देखी जाती है । अतः उसकी कृपा सार्वत्रिक न हो यह सम्भव है । इससे यह सिद्धान्त फलित हुआ कि भगवान् भक्तके अधीन हैं, इस कारण भक्तकृपानुगामिनी भगवत्कृपा उस निर्गुणा भक्तिमें हेतु है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि हेतु सिद्ध हो जानेपर भक्तिकी अहेतुकता कहाँ रही ? इसके उत्तरमें निवेदन है कि भगवत्कृपा भक्तकृपाके अन्तर्भूत है, भक्तकृपा भक्तसंगके अन्तर्भूत है और भक्तसंग भक्तिका ही अङ्ग है अतः उक्त भक्तिमें भक्ति ही हेतु है । भक्तिसे भिन्न कोई वस्तु हेतु न होनेके कारण उसकी अहेतुकता सिद्ध हो गयी । इतना ही नहीं, भक्तकी कृपामें उस भक्तकी हृदयवर्तिनी भक्ति ही कारण है; क्योंकि उसके विना कृपाका उदय हो नहीं सकता । सबप्रकारसे यही सिद्ध होता है कि भक्तिमें भक्ति ही हेतु है, इससे उसकी निर्हेतुकता सिद्ध होती है ।

भक्ति शास्त्रके सिद्धान्तमें भक्ति, भक्त, भजनीय भगवान् और उनकी कृपा आदि पृथक्-पृथक् वस्तु नहीं हैं । इसलिये भक्तिके स्वप्रकाशक होनेके कारण यद्यपि वह भक्तिसे प्रकाश्य है, तथापि भगवान्की स्वप्रकाशतामें कोई अनुपपत्ति नहीं है । अप्रतिहताका अर्थ है, जिसका किसीसे निवारण न किया जा सके वह । जैसा कि भक्तिके लक्षणमें आगे कहेंगे ।

'मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ।'

'जैसे गङ्गाजलकी अविच्छिन्न धारा समुद्रमें मिलती है, उसी प्रकार मनका भगवान् के प्रति अविच्छिन्न प्रवाह ही भक्ति है ।

श्रीरूपगोस्वामीपाद ने भी ऐसा ही कहा है—

'सर्वथा ध्वंस रहितं सत्यपि ध्वंसकारणे ।'

'प्रेमभक्ति ध्वंसका कारण होनेपर भी सर्वथा ध्वंस रहित होती है।'

अथवा अप्रतिहता'का अर्थ हैं—ज्ञानकर्म आदिसे आवृत न होने वाली। जिस भक्ति से आत्मा अर्थात् मन भली-भाँति प्रसन्न (निर्मल) हो जाता है। कामनाजनित मालिन्य रहनेपर भक्ति मनः प्रसादकी हेतु नहीं बन सकती, अतः इस (निर्गुण) भक्तिकी निष्कामता स्वतः सिद्ध हो जाती है।



नयन आकुल प्राण विह्वल



प्रिय ! तुम्हारे दर्शनोंको, नयन आकुल, प्राण विह्वल।
ढूंढ़ मैं कबसे रहा हूँ, हो रहे क्यों दृष्टि ओझल॥

किस जगहपर हो यहीं तुम, किस जगहपर हो नहीं तुम।
हर जगहपर देखता हूँ— दे रहे पग छाप हो तुम।
भूल-सीमें पड़ गई है, बुद्धि मेरी आज दुर्बल।
ढूंढ़ मैं कबसे रहा हूँ, हो रहे क्यों दृष्टि ओझल॥

ध्यान कर जब पग बढ़ाता, दो कदम, चल भूल जाता।
क्या करूँ हैं राह इतनी, हर पथिक मुझको भुलाता।
हो यहींपर पास मेरे, मिल रहा आभास केवल।
ढूंढ़ मैं कबसे रहा हूँ, हो रहे क्यों दृष्टि ओझल॥

तुच्छ है सामर्थ्य मेरी, कर रहे क्यों और देरी।
क्या पता फिर हो मिलन कब, घिर रही नभमें अंधेरी।
लो स्वयं मैं हार बैठा, दो मुझे आधार संबल।
ढूंढ़ मैं कबसे रहा हूँ, हो रहे क्यों दृष्टि ओझल।
प्रिय ! तुम्हारे दर्शनोंको, नयन आकुल, प्राण विह्वल॥

—'श्रीत्रिलोकीनाथ व्रजबाल'

गङ्गावतरण

★

—डा० सुरेश व्रत राय, एम० ए०; डी० फिल०; एल-एल० बी०

अकस्मात् आकाशमें दुन्दुभि वजने लगी, तुरही बजने लगीं। शङ्खनादके साथ आकाशसे पुष्प-वृष्टि होने लगी। भगीरथकी तपस्याका द्वितीय-चरण पूरा हुआ। सहस्रों वर्षोंकी कठिन तपस्या एवं साधनोंके कारण कृशकाय, परन्तु तेजसे प्रदीप्त भगीरथ ने अर्द्धनिमीलित नेत्र खोले और देखा सामने शंकर भगवान्को दृढ़तासे पैर जमाये आकाशकी ओर देखते हुए. दर्पिनी गङ्गाका अहङ्कार नष्ट करनेके लिये सन्नद्ध नियंत्रणकी दिशा देने और प्राणीमात्रके कल्याणके लिये जटाओंके बीच जगमगाते अर्द्धचन्द्रके प्रकाशसे जटायें आलोकित हो उठीं।

टिड्डीदलकी भाँति आकाशमें छाये विमानों, दर्शनार्थी देवताओं, यक्षों,गंधर्वों, किन्नरों तथा अप्सराओंका जमाव अभूतपूर्व दृश्य देखनेके लिये, सुरसरिका स्वर्गसे पृथ्वीपर अवतरण, वहभी वेगसे चुनौतीके साथ। मंत्रोच्चारके साथ ब्रह्माने कमण्डलु तिरछा किया, कुछ बूँदें विष्णुके चरणोंपर गिरीं और फिर क्रमशः विराटरूप धारण करती चली गयीं। आकाशमें लहराने लगा महासागर जलधरों सहित उत्ताल तरंगें, ज्वार-भाटा, कानोंको बहरा करदेनेवाला जलनाद महाप्रलयके रूपमें महासागर पृथ्वीके निकट आनेलगा। लोग भयभीत एवं सशंकित हो उठे प्रलयके जलप्लावनकी आशंकासे। गङ्गाके इस रौद्ररूपकी चुनौतीसे भगीरथ स्वयं भी आशंकित हो उठे।

अकस्मात् सब एकदम शान्त हो गया। लहराता सागर अदृश्य हो गया, जैसे बाजीगरका तमाशा हो अथवा राक्षसी माया। भयंकर नाद तिरोहित होगया। कहाँ जलप्लावनकी आशंका और कहाँ यह नीरवता? लोग समझगये कि यह हुआ क्या? भगीरथको सफलता अवश्य मिली, परन्तु ताड़से गिरकर खजूरमें अटकनेकी स्थिति होगई। लहराता सागर सिमट चुका था शिवकी जटाओंमें और मानिनी गङ्गाका दर्प चूर होगया। चुनौती देनेवाली गङ्गा छटपटा रही थी मुक्ति के लिये और गिड़गिड़ा रही थीं पिनाकपाणिसे तथा अधीर थे भगीरथ, भस्मीभूत

पूर्वजोंके उद्धारके लिये, जन-जनके कल्याण और समृद्धिके लिये, अन्तर्यामी आशुतोष ने जटाके कुछ केश खोलदिये और फूटपड़ी गङ्गाकी शीतलधार, मानभंग करने वाले शंकरभगवान्के चरणस्पर्श करती "शिवत्व" तत्व आत्मसात् कर चल पड़ी गोमुखसे स्वर्गद्वारकी ओर घाटियोंमें मचलती, उफनती, इठलाती, बलखाती। तटवर्ती पशुपक्षी, मानव नाच उठे आनन्दसे। प्रकृतिका संगीत गुञ्जरित होउठा। वसुधाने शृङ्गार किया हरितमासे, रंग विरंगे पुष्पों, फलों एवं सुरभिसे। हिमालयकी अगम्य एवं गहन कन्दराओं, वनोंकी अलौकिक एवं चमत्कारी जड़ी-बूटियोंके रस-मिश्रित औषधरूप, रोगनाशक, गुणकारक अमृतका प्रवाह चल पड़ा। रंग-विरंगे गोलमटोल पत्थरके टुकड़ोंसे आच्छादित मणिजटित तटोंके बीच दुग्धफेन, चक्करदार नैसर्गिक सीढ़ियोंसे चढ़ती उतरती जलधारा आगे-आगे राजा भागीरथ और पीछे अनुगमन करती सुरसरि बढ़ने लगी।

प्रदेशमें नये जीवनका संचार हुआ, जीवन लहलहा उठा। मार्गमें अनेक छोटी-बड़ी सरिताओंने अभिनन्दन किया सहोदराका, कहीं यमुना, तो कहीं वरुणा, कहीं सरयू तो कहीं ब्रह्मपुत्र। भस्मीभूत अभिशाप सगरपुत्र जलका स्पर्श पातेही ऐसे उठ खड़े हुए जैसे सोकर उठे हों। लहराती, बलखाती, इतराती, दर्पखण्डिता, गङ्गाने समाधिस्थ जह्नु ऋषिको उनकी कुटिया समेत अपने प्रवाहसे थोड़ी दूर वहा दिया और समाधि भग करदी। क्षुब्ध जह्नु ऋषि, अपनी मर्यादा छोड़कर धृष्टता करनेलाली गङ्गाका पान कर गये। गर्विता सुरसरिका रहा सहा दर्प भी चूर हो गया। अन्तमें पुनः मुक्ति मिली और चलपड़ी धारा, जह्नु ऋषिकी अनुकम्पाकी मुहर लग गयी, सदैवकेलिये गङ्गाकी प्रसिद्धि हुई जाह्नवीके रूपमें। १५०० मील की यात्रा करती हुई, प्राणियोंका कल्याण करती हुई अनन्तसागरमें विलीन गङ्गाका रूप ही है सबसे बड़ा जीवन-दर्शन।

गङ्गाके साथ उभरे सजीव चित्र, हरकी पैड़ीके मनोरमदृश्य, प्रयागका ध्वज पताकाओंसे सुशोभित संगमक्षेत्र, काशीके अर्द्धचन्द्राकार घाट और उनपर थिरकता लोकजीवन, गङ्गाकी लहरोंपर तैरता-उतराता जन-जीवन, गङ्गामैयाकी गोदमें पनपता लोक-जीवन, लोक-गीतोंमें जन्मसे लेकर अस्थि-विसर्जन तक गङ्गाका अटूट सम्बन्ध, महान् कुम्भोंसे लेकर दैनिक स्नान पर्वके समारोह और जीवनका स्पन्दन। गङ्गा साक्षी है गत हजारों वर्षोंके उतार-चढ़ावकी बदलते ऐतिहासिक क्रम, दासता, मुक्ति और जन-आंदोलनों की, पाटलीपुत्रोंके उतार-चढ़ावकी, रामकी पुण्य-गाथा और हमारे देशकी सभ्यता एवं संस्कृतिकी कहानी पिरोयी है गङ्गाकी तरगोंमें। गङ्गा सतत प्रवाहमान् भारतीय संस्कृति की प्रतीक है, जिसकी प्रशस्तिमें गूँजती हैं--ऋचायें, भक्तिगान, कीर्तन, झाँझ-मँजीरों और करतलोंकी मधुर ध्वनि, जगमगाते अर्पित दीप--रसखान, रहीम, तुलसी, विद्यापति, पद्माकर, रत्नाकर, भारतेन्दु, मैथिलीशरणके समर्पित काव्य पुष्प और जिसके पावनचरणोंमें समर्पित एवं श्रद्धांनत हैं जनजीवन, जिसके स्पन्दन ओत-प्रोत हैं पुण्य-सलिला जाह्नवीसे।

दशहरा-तात्पर्य—

★

श्रीनारद महापुराणमें वर्णन आया है कि जह्नु-पुत्री गङ्गा ज्येष्ठ शुक्ला दशमी को स्वर्गसे इस पृथ्वीपर अवतीर्ण हुई थीं, इसलिये वह तिथि पुण्यदायिनी मानी गयी है। १–ज्येष्ठ मास, २–शुक्ल पक्ष, ३–हस्त नक्षत्र, ४–बुध दिन, ५–दशमी तिथि, ६–गर करण, ७–आनन्द योग, ८–व्यतीपात, ९–कन्या राशिके चन्द्रमा तथा वृष राशिके सूर्य—इन दसोंका योग महान् पुण्यमय बताया गया है। इन दस योगोंसे युक्त उक्त तिथि दस पापोंको हरलेती है, इसलिये इसे दशहरा कहते हैं। जो इस दशहरा में प्रसन्न चित्तहो विधिपूर्वक गङ्गाजीके जलमें स्नान करता है, वह भगवान् विष्णु के परमधाममें जाता है।

[द्रष्टव्य नारदपुराण पूर्वभागः चतुर्थपाद
११९ वाँ अध्याय

वट-सावित्री-व्रत—

★

ज्येष्ठमासकी पूर्णिमाको वट-सावित्रीका व्रत किया जाता है। वह नारीके लिये सौभाग्यवर्धक माना गया है। इस व्रतके विषयमें कहा गया है कि ज्येष्ठशुक्ला पूर्णिमाको उपवास (व्रत) करके अमृतके समान मधुरजलसे वट-वृक्षको सींचे और सूतसे उस वृक्षको एकसौ आठ बार प्रदक्षिणा क्रमसे लेपेटे। तदनुसार परम पतिव्रता सावित्रीदेवीसे इस प्रकार प्रार्थना करे—

जगत्पूज्ये जगन्मातः सावित्रि पति दैवते !
पत्या सहावियोगं मे वटस्थे कुरु ते नमः ॥

(नारद० पूर्व० १२४ । ११)

जगन्माता सावित्री ! तुम सम्पूर्ण जगत्के लिये पूजनीया तथा पतिको ही इष्ट देवता माननेवाली पतिव्रता हो। वटवृक्षपर वास करनेवाली देवि ! तुम ऐसी कृपा करो, जिससे मेरा अपने पतिके साथ संयोग बना रहे। कभी वियोग न हो। तुम्हें मेरा सादर नमस्कार है।

जो नारी इस प्रकार प्रार्थना करके दूसरे दिन सुवासिनी स्त्रियोंको भोजन करानेके पश्चात् स्वयं भोजन करती है, वह सदा सौभाग्यवती रहती है।

(द्रष्टव्य ना० पु० १२४ वाँ अध्याय)

•••○○•••

महाविदुषी 'भारती'

—उमाशंकर दीक्षित एम० ए०

एक दम प्रातः कालका समय भगवान् भास्कर अभी अपनी अरुणिम आभाका प्रकाश फैलानेकी तैयारीमें ही थे, पर अन्धकार कुछ कम अवश्य हो चला था। अभी तक कोई व्यक्ति घरसे बाहर नहीं निकला था। अनजान नगर मिथलाकी गलियोंमें जगद्वंद्य शंकराचार्य इधरसे उधर चक्कर काट रहे थे। पूछें तो किससे पूछें कोई बताने वाला भी नहीं दीखता। तभी आचार्यपाद शंकरको उस गलीमें झाड़ू देती हुई एक नारी दिखाई पड़ी। आचार्यने आगे बढ़कर उससे पूछा, महापंडित मंडनमिश्रके घरका पता। उस झाड़ू देने वाली नारीने शुद्ध संस्कृतमें ही नहीं अपितु कवितामें उत्तर देते हुये बताया—

जगद्ध्रुवं स्यात् जगदध्रुवं स्यात्कीरांगना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थ नीड़ान्तर सन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनमिश्र गेहम्॥

(हे आगन्तुक, जिस मकानके सामने तोते और मैना द्वारपर टंगे हुये पिजड़ोंमें संसारकी असारतापर बातचीत करते दीखें बस, उसे ही आप मंडन मिश्रका घर है ऐसा समझ लें)।

इसे सुनकर जगद्गुरु चकित रह गये। जिस नगरकी शूद्र नारी भी इतनी सुन्दर संस्कृतमयी वाणी उच्चारण कर सकती है उस नगरके विद्वान् व्यक्तियोंके साथ शास्त्रार्थ करना आसान न होगा, किन्तु वे साहस पूर्वक आगे बढ़े। उन्होंने सचमुच ही देखा कि दो अलग-अलग पिजड़ोंमें तोता और मैना संस्कृतमें वेदान्तके गहन विषयोंकी चर्चाकर रहे हैं। बस उसीसे अनुमान लगाकर शंकराचार्यने मंडनमिश्रको पुकारा। मिश्रने आकर आचार्यपादका स्वागत कर आनेका कारण पूछा। शंकराचार्यने अपना अभिप्राय बताया—उनके साथ शास्त्रार्थ। मंडन मिश्र तत्काल तैयार हो गये।

शास्त्रार्थकी शर्त यह तय हुई कि यदि शंकराचार्य हार जायें तो वे सन्यास त्याग कर गृहस्थ धर्म स्वीकार करें तथा मंडन मिश्रके शिष्य बनें और यदि मंडनमिश्र हार जांय तो वे गृहस्थ धर्म त्याग कर शंकराचार्यकी शिष्यता स्वीकार करें। शर्त दोनोंके लिये बड़ी अपमानजनक थी। अब समस्या थी कि शास्त्रार्थका निर्णय कौन करे? इस शास्त्रार्थका निर्णय तो वही कर सकता है जोकि इन दोनों विद्वानोंसे भी अधिक विद्वान् हो। परन्तु ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं दीख पड़ता था।

तब मंडन मिश्रकी पत्नीपर इस शास्त्रार्थके निर्णयका भार छोड़ा गया। इन महा विदुषीका नाम था 'भारती'। भारती सभी शास्त्रोंकी पंडिता थीं। शंकराचार्यने भी उसकी मध्यस्थता बड़ी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करली।

इस शास्त्रार्थका भारतीय इतिहासमें बड़ा ही महत्व है इसके दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि एक सत्रह वर्षके सन्यासी शंकरने भारतके मूर्धन्य पंडित मंडन मिश्रको हराया था। दूसरा यह कि इस महान शास्त्रार्थका निर्णय एक नारी ने किया।

इससे पता चलता है कि उस समय भारतमें विद्याका प्रचार उच्चश्रेणीपर तो था ही, साथही नारी शिक्षा इससे ऊपर थी। यहाँकी स्त्रियाँ कितनी पंडिता थीं। इस घटनाका महत्व इसलिये भी अधिक है कि फैसला देनेवाली इस महान नारीने कितने संयमसे कार्य किया। भारती पक्षपात कर सकती थी और अपने पतिके महत्वको ध्यानमें रख कर उसका पक्षपात करना स्वाभाविक था। उसने बिलकुल भी पक्षपात नहीं किया और निष्पक्षतापूर्ण निर्णय अपने पतिके विरुद्ध दिया। यह बात कितने महान व्यक्तित्वको चरितार्थ करती है।

शास्त्रार्थ कई दिनों तक चला। इन दोनों भारत विख्यात महान विद्वानोंका वाक्-युद्ध देखनेके लिये दूर दूरसे आकर विद्वद्जन जमा होने लगे। इस कौतूहलमें राजा महाराजा भी सम्मिलित हुये। उस महान जनसमूहमें मंडन मिश्रकी पराजयकी घोषणाकी गयी और वह भी महापंडिता मंडन मिश्रकी पत्नीने।

किन्तु जब मंडनमिश्र जगद्गुरुके चरणोंमें झुकना ही चाहते थे तभी भारतीने आवाज दी—ठहरो, और उसने आगे बढ़ कर शकराचार्यसे कहा—आचार्य, अभी आपने हम दोनों में से एकको ही हराया है। नारी पुरुषकी अर्द्धांगिनी होती है। अतः जब मुझको भी हरा दोगे तभी तुम्हारी पूरी जीत होगी। क्योंकि हम दोनों दो शरीर और एक प्राण हैं।

बात तर्क संगत थी। शंकराचार्यने स्वीकार किया और एक बार मंडन मिश्रकी पत्नी भारती और स्वामी शंकराचार्यका शास्त्रार्थ शुरू हुआ। शंकराचार्य आजन्म ब्रह्मचारी थे। दूसरे उन्होंने स्त्रीको केवल माताके ही रूपमें देखा और जाना था। स्त्री और कामशास्त्र का अनुभव उनको नहीं था। अन्य विषयोंका निर्णय तो मंडन मिश्रके साथ हो चुका था। अतः भारतीके दाम्पत्य विषयक कामशास्त्रमें आचार्य शंकरने अपनी अज्ञानता स्वीकार की। परन्तु भारतीने स्वयं ही शङ्कराचार्यसे कहा, कि एक सन्यासीको इस विषयकी लालसा क्या हो सकती है। आप एक पवित्र आत्मा हैं। अतः मैं जीतकर भी अपनी हार स्वीकार करती हूँ, और आपके चरणोंमें हम दोनोंका प्रणाम स्वीकार हो।

बादमें यही मंडनमिश्र सुरेश्वराचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुये तथा दक्षिणके शृंगेरीमठ के प्रथम शंकराचार्य हुये। शृंगेरी मठमें भारतीका भी एक मंदिर बनवाया गया। जो आज भी वहाँ विद्यमान है। भारतीय नारियोंके लिये तो यह स्थान महान् गौरवका है। उनके नामसे नारी जातिका मस्तक ऊँचा उठता है।



'श्रीकृष्ण-सन्देश' के ग्राहक-अनुग्राहकों-से नम्र निवेदन

हमारे कृपालु पाठकों और पाठिकाओंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि हम "श्रीकृष्ण-सन्देश" को नयी साज-सज्जाके साथ नये परिवेशमें प्रकाशित करने जा रहे हैं। इस दिशामें हमें आपके सहयोगकी नितान्त आवश्यकता है। आप अपनी सम्मति एवं सुझाव देकर पत्रको जनोपयोगी बनानेमें हमारी मदद कर सकते हैं। वर्तमान वर्ष प्रायः पूर्ण हो चला है। आगामी अगस्त, १९६९ से "श्रीकृष्ण-सन्देश" अपने पांचवें वर्षमें प्रवेश करेगा। हम आपके ज्ञानवर्द्धनके लिये उपयुक्त सामग्रीके संचय और प्रकाशनकी व्यवस्था कर रहे हैं। महर्घताके इस युगमें यद्यपि यह कार्य दुष्कर है, तथापि भगवान्‌की कृपा तथा आप कृपालु पाठकोंके हार्दिक सहयोगसे हम अपने इस शुभ-संकल्पको पूर्ण करनेमें अवश्य सफल होंगे—ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। हमारी प्रार्थना है कि आप सब ग्राहक महानुभाव इस वर्ष कम-से-कम दस-दस नये ग्राहक बनानेकी कृपा करें तथा आगामी वर्षके लिये नियत वार्षिक शुल्क शीघ्रातिशीघ्र भेजनेका कष्ट उठावें। इस तरह भगवान् श्रीकृष्णके सन्देशका देशके कोने-कोनेमें प्रचार-प्रसार करनेमें निमित्त बनकर आप अक्षय पुण्यके भागी बनेंगे और श्रीकृष्ण-सन्देशके प्रकाशनका सदुद्देश्य सफल होगा।

श्रीकृष्ण-सन्देश कार्यालय
मथुरा।

प्रबन्ध-सम्पादक

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघके लिये देवधर शर्मा द्वारा मथुरा प्रिंटिंग प्रेस, मथुरामें मुद्रित तथा प्रकाशित। आवरण मुद्रक : राधाप्रेस, गांधीनगर, दिल्ली-३१